२०५

१

हर दिन पावन

(भाग एक - जनवरी)



- विजय कुमार

हर दिन पावन

भाग– एक (जनवरी)

☆

लेखक

विजय कुमार

❖

लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

प्रकाशक :
लोकहित प्रकाशन
'संस्कृति भवन', राजेन्द्र नगर,
लखनऊ – २२६००४

☆

I.S.B.N. : 978-81-89606-25-1

प्रथम संस्करण
श्रीराम नवमी
सम्वत्– २०६५
युगाब्द– ५११०
१४ अप्रैल, २००८

मूल्य : रु. २०.००

मुद्रक :
नूतन आफसेट मुद्रण केन्द्र
'संस्कृति भवन', राजेन्द्र नगर,
लखनऊ – २२६००४

अपनी बात

दैनिक शाखा के शारीरिक एवं बौद्धिक विभाग में काम करते हुए मुझे अनेक अनुभव एवं अनुभूतियाँ हुईं। इसी में से ४०० खेलों के सचित्र वर्णन वाली 'आओ खेलें खेल' जैसी पुस्तक बनी, जिसकी प्रतिवर्ष हजारों प्रतियाँ देश भर में बिकती हैं। ऐसा ही एक विनम्र प्रयास यह पुस्तक है। शाखा पर प्रतिदिन एक बोधकथा सुनाने का आग्रह किया जाता है। यदि उसका सम्बन्ध उसी दिन से हो, तो निःसन्देह वह अधिक प्रेरक सिद्ध होगी। इस विचार में से यह पुस्तक जन्मी है।

मेरी इच्छा थी कि पूरे ३६५ प्रसंग लिखूँ; पर काफी प्रयास के बाद लगभग ३०० प्रसंग संकलित हो पाये हैं। सम्भवतः अगले संस्करण में यह संख्या पूरी हो सकेगी। इन्हें मासिक क्रम से १२ खण्डों में बाँटा है। लिखते समय यह ध्यान रखा गया है कि पाँच मिनट में इन्हें पढ़ा जा सके। इस प्रकार यह दैनिक शाखा, संस्कार केन्द्र और उन विद्यालयों के लिए बहुत उपयोगी है, जहाँ वन्दना के समय प्रेरक प्रसंग सुनाये जाते हैं। जो लोग पूजा–पाठ करते हैं, वे पूजागृह में इसे भी रख सकते हैं। प्रतिदिन किसी महामानव का स्मरण भी पूजा ही है।

लिखते समय तिथियों को ठीक रखने का प्रयास किया है, फिर भी कुछ भूल हो सकती है। यदि जागरूक पाठक सप्रमाण ठीक तिथियाँ भेजेंगे, तो उन्हें सुधार लिया जायेगा। पुस्तक में अनेक संघ प्रचारकों, क्रान्तिकारियों, साहित्यकारों, समाजसेवियों, वैज्ञानिकों, संन्यासियों आदि की चर्चा है। छोटे प्रसंगों से इनके बारे में और अधिक जानने की जिज्ञासा होगी। सुधी पाठक ऐसी ही और सामग्री यदि भेजेंगे, तो उन्हें भी अगले संस्करण में समाहित कर लिया जाएगा।

इसके निर्माण में सैकड़ों पुस्तकों और पत्र–पत्रिकाओं का उपयोग किया गया है। कहीं से मैंने शीर्षक लिया है, तो कहीं से सामग्री। ऐसे सब लेखकों, प्रकाशकों तथा सम्पादकों को मैं प्रणाम करता हूँ। राष्ट्रधर्म के सम्पादक श्री आनन्द मिश्र 'अभय' का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने पाण्डुलिपि पढ़कर तथ्यों में सुधार किया। पुस्तक के बारे में आपकी प्रतिक्रिया की मुझे प्रतीक्षा है।

भवदीय :

विजय कुमार
सहायक सम्पादक, राष्ट्रधर्म मासिक
संस्कृति भवन, राजेन्द्र नगर, लखनऊ – २२६००४

प्रकाशकीय

"हर दिन पावन" एक विशेष प्रकार का ग्रन्थ है; क्योंकि इसमें अनेक स्वनामधन्य स्त्री–पुरुषों का स्मरण किया गया है। इसमें लेखक ने स्मरणीय ख्यातनामों के अमोघ जीवन की झलक–झाँकियाँ प्रस्तुत की है। जीवनी संग्रह का यह कोष लेखक ने बहुत ही प्रयत्न व परिश्रम से तैयार किया है।

लेखक का यह प्रयास अत्यन्त प्रशंसनीय है। यद्यपि पूरे ३६५ दिन (१ वर्ष) के महापुरुषों का संयोजन इस पुस्तक में नहीं हो पाया है। अगले संस्करण में इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न होगा।

एक–एक महापुरुष का जीवन इतना प्रेरणाप्रद है कि उसका अनुकरण कर हम उन समान बन अपने चिरञ्चीवी सनातन समाज को अतुलनीय बना सकते हैं। आज के समय में महापुरुषों के प्रति उदासीनता निश्चित रूप से एक बड़ी समस्या है। आशा है इसका समाधान प्रस्तुत करने में यह पुस्तक सक्षम सिद्ध होगी।

विश्वास है कि सुधी पाठक इस ग्रन्थ का लाभ उठायेंगे। लोकहित प्रकाशन इस अमूल्य कृति को छापकर अपने को धन्य अनुभव कर रहा है।

— प्रकाशक

अनुक्रमणिका

१ जनवरी **जन्म-दिवस**

साहित्यप्रेमी राजनेता : डा० सम्पूर्णानन्द

साहित्य और राजनीति दो अलग प्रकार के क्षेत्र हैं। राजनीति में उठापटक और गुटबाजी के बिना काम नहीं चलता, जबकि साहित्य की साधना शान्ति और एकान्त चाहती है। इसीलिए ऐसे लोग बहुत कम ही हुए हैं, जिन्होंने दोनों क्षेत्रों में समान अधिकार से काम किया है। ऐसी ही एक विभूति थे डा० सम्पूर्णानन्द।

सम्पूर्णानन्द जी का जन्म काशी के एक विद्वान् श्री विजयानन्द के घर में एक जनवरी १८९० को हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। कुछ बड़े होने पर उन्हें काशी के विख्यात हरिश्चन्द्र स्कूल और फिर क्वीन्स कॉलिज में पढ़ने भेजा गया। उन दिनों प्रयाग शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था। अत: ये प्रयाग आ गये। यहाँ से बी.एस–सी और फिर एल.टी की परीक्षा अच्छे अंकों में उत्तीर्ण की। इनकी रुचि पढ़ने के साथ पढ़ाने में भी थी। अत: ये वृन्दावन के प्रेम महाविद्यालय में अध्यापक के नाते कार्य करने लगे।

अध्यापन के साथ–साथ स्वाध्याय की ओर भी उनका पूरा ध्यान था। मूलत: विज्ञान के छात्र होते हुए भी उन्होंने शिक्षा, साहित्य, धर्म, दर्शन, ज्योतिष और वेदान्त आदि का गहन अध्ययन किया। हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों पर निबन्धों का अभाव था। अत: उन्होंने इस क्षेत्र में काफी काम किया। उनके निबन्धों के विषय यद्यपि जटिल होते थे; पर लेखन की शैली सरल एवं प्रवाहमयी होने के कारण छात्र उन्हें आसानी से समझ लेते थे। इन उपलब्धियों के लिए वे 'विद्या वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किये गये।

उन दिनों देश में अंग्रेजों का शासन होने के कारण लोगों का रुझान

अंग्रेजी की ओर बढ़ रहा था। सम्पन्न घरों के लोग अंग्रेजी बोलने और पढ़ने में गौरव अनुभव करते थे। अंग्रेजी विद्यालयों की संख्या भी लगातार बढ़ रही थी; पर अंग्रेजी के विद्वान होते हुए भी डा० सम्पूर्णानन्द सदा हिन्दी के पक्षधर रहे। उन्हें हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए 'समाजवाद' नामक पुस्तक पर 'मंगला प्रसाद पुरस्कार' भी मिला। १९४० में वे 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के सभापति निर्वाचित हुए। लम्बे समय तक वे 'नागरी प्रचारिणी सभा' के भी अध्यक्ष और फिर संरक्षक रहे।

देश की सेवा के लिए डा० सम्पूर्णानन्द ने राजनीति को माध्यम बनाया। उन दिनों राजनीति आज की तरह कलुषित नहीं थी। स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान अनेक बार उन्हें जेल की यातनाएँ सहनी पड़ीं; पर वे इस पथ पर डटे रहे। १९३६ में जब संयुक्त प्रान्त की अन्तरिम विधान सभा का गठन हुआ, तो वे विधान सभा के सदस्य चुने गये। शिक्षा के प्रति उनके रुझान, अनुभव और प्रेम को देखकर उन्हें शिक्षा मन्त्री का कार्य दिया गया।

इस पद पर रहकर शिक्षा में सुधार के लिए उन्होंने सराहनीय काम किया। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना उनके प्रयत्नों से ही हुई। १९५५ में वे उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री बने। राजनेता होते हुए भी डा० सम्पूर्णानन्द ने चिद्विलास, जीवन और दर्शन, समाजवाद, महात्मा गान्धी, चितरञ्जन दास, सम्राट हर्षवर्धन, अन्तरिक्ष यात्रा, गणेश आदि पुस्तकों की रचना की। वे हिन्दी की 'मर्यादा' एवं अंग्रेजी की 'टुडे' नामक पत्रिकाओं के सम्पादक भी रहे।

भगवान शंकर के त्रिशूल पर बसी धर्मनगरी काशी से अपने जीवन की यात्रा प्रारम्भ करने वाले प्रख्यात साहित्यकार, विचारक, लेखक, पत्रकार, सम्पादक, स्वतन्त्रता सेनानी व राजनेता डा० सम्पूर्णानन्द का काशी की पुण्यभूमि पर ही १० जनवरी १९६९ को निधन हुआ।

❖

२ जनवरी जन्म-दिवस

अखण्ड कर्मयोगी : माधवराव देशमुख

संसार में करोड़ों लोग जन्म लेते हैं और नियति के शाश्वत नियमानुसार अनन्त में विलीन हो जाते हैं। उनमें से कुछ ही ऐसे भाग्यवान होते हैं, जो देहान्त के बाद भी अपने व्यक्तित्व, कृतित्व और निष्ठा की छाप छोड़कर सदा के लिए अमर हो जाते हैं। कबीर दास जी ने ऐसे लोगों के लिए लिखा है –

कबीरा जब तुम आये थे, जग हँसे तुम रोये
ऐसी करनी कर चलो, तुम हँसो जग रोये।।

२ जनवरी १९१८ को काशी में जन्मे माधवराव ने इन पंक्तियों को सार्थक कर दिखाया। उनकी ननिहाल नागपुर के पास रामटेक में थी। माधव की रुचि शिक्षा में तो थी, पर विद्यालय में नहीं। उनके बड़े भाई अध्यापक थे, उन्होंने माधव को कई बार साथ ले जाना चाहा; पर असफल रहे। फिर इन्हें काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य जागेश्वर पाठक के पास भेजा गया। यहाँ माधवराव ने शिक्षा के अनेक पड़ाव पार किये; पर कभी प्रमाण पत्र नहीं लिये।

१९३७ में माधवराव ने अपने घर के पास लगने वाली 'जंगमबाड़ी' शाखा पर जाना प्रारम्भ किया। संघ कार्य धीरे–धीरे उनके मन में बस गया। उनके प्रयास से वाराणसी और उसके आसपास अनेक नयी शाखाएँ प्रारम्भ हुईं। संघ शिक्षा वर्गों में प्रशिक्षण लेकर वे संघ के प्रचारक बन गये। वार्तालाप की उनकी रोचक शैली के कारण उनके बौद्धिक, बैठकों आदि में उल्लास छाया रहता था। प्रचारक के नाते वे जौनपुर, गोरखपुर, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, मेरठ, आगरा, आदि अनेक स्थानों पर रहे। हर स्थान पर उन्होंने समाज के प्रतिष्ठित लोगों को

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ जोड़ा।

१९५६ में उन्होंने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया। इसके बाद भी उनके जीवन की प्राथमिकता संघ ही था। इसका श्रेय उनकी पत्नी को है, जिन्होंने बहुत कम खर्च में घर चलाया। वे उनके प्रवास में कभी बाधक नहीं बनीं। जब माधवराव हृदयरोग से पीड़ित थे, तो कई बार वे स्वयं ही उनके साथ चली जाती थीं; पर उनका प्रवास न छूटे, इसका वे पूरा ध्यान रखती थीं। देश के विभाजन के बाद जब विस्थापित हिन्दू भारत में आये, तो उनकी सेवा के लिए संघ ने अनेक शिविर लगाये। इसमें बहुत पैसा खर्च हो रहा था। माधवराव अपनी प्रभावी वक्तृत्व शैली से अनेक ऐसे सम्पन्न लोगों से भी धन ले आये, जिनके पास जाने का कोई साहस नहीं करता था। १९४८ में संघ पर प्रतिबन्ध के समय उन्होंने भूमिगत रहकर अपने क्षेत्र में सत्याग्रह का सञ्चालन किया।

१९६४ में विश्व हिन्दू परिषद की स्थापना के बाद उन्हें इसके संगठन का काम सौंपा गया। माधवराव पूरे परिश्रम से इसमें लग गये। संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी के प्रति उनके मन में बहुत श्रद्धा थी। अनेक विद्वान् धर्माचार्यों की उपस्थिति में १९७३ में उनके स्वास्थ्य लाभ के लिए काशी में माधवराव के घर पर 'महारुद्राभिषेक' का आयोजन किया गया।

१९७५ में संघ पर प्रतिबन्ध लगने के बाद वे डेढ़ साल तक वाराणसी, नैनी आदि अनेक जेलों में बन्द रहे। उनके रहने से जेल का वातावरण भी उत्साह एवं संस्कार से भर उठता था। इस समय तक वे अनेक रोगों से पीड़ित हो चुके थे। प्रतिबन्ध हटने के बाद वे फिर उत्साह से काम में लग गये और यथासम्भव प्रवास भी करने लगे; पर अब शरीर साथ नहीं दे रहा था। उनकी इच्छा संघ शिक्षा वर्गों में जाने की थी; पर विधि के विधान के अनुसार १४ मई, १९८२ को वे सदा–सदा के लिए अनन्त की यात्रा पर चले गये।

❖

३ जनवरी जन्म-तिथि

मैं फिर यहीं जन्म लूँगा

१७वीं शती के अन्त में दक्षिण भारत का अधिकांश भाग अर्काट के नवाब के अधीन था। वह कायर लगान भी ठीक से वसूल नहीं कर पाता था। अतः उसने यह काम ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दे दिया। फिर क्या था; अंग्रेज छल, बल से लगान वसूलने लगे। अंग्रेजों की शक्ति देखकर अधिकांश राजा डर गये; पर तमिलनाडु के पाण्ड्य नरेश कट्टबोमन ने झुकने से मना कर दिया। उसने अपने जीते जी धूर्त अंग्रेजों को एक पैसा नहीं दिया। कट्टबोमन (बोम्मु) का जन्म तीन जनवरी १७६० को हुआ था। कुमारस्वामी और दोरेसिंह नामक उनके दो भाई और थे। दोरेसिंह जन्म से ही गूँगा–बहरा था; पर उसने कई बार अपने भाई को संकट से बचाया।

बोम्मु पाण्ड्य नरेश जगवीर के सेनापति थे। उनकी योग्यता एवं वीरता देखकर राजा ने अपनी मृत्यु से पूर्व उन्हें ही राजा बना दिया। राज्य का भार सँभालते ही बोम्मु ने नगर के चारों ओर सुरक्षा हेतु मजबूत परकोटे बनवाये और सेना में नयी भर्ती की। उन्होंने जनता का पालन अपनी सन्तान की तरह किया। इससे उनकी लोकप्रियता सब ओर फैल गयी।

दूसरी ओर उनके राज्य के आसपास अंग्रेजों का आधिपत्य बढ़ रहा था। कम्पनी का प्रतिनिधि मैक्सवेल वहाँ तैनात था। उसने बहुत प्रयास किया; पर बोम्मु दबे नहीं। छह वर्ष तक दोनों की सेनाओं में संघर्ष होता रहा; पर अंग्रेज सफल नहीं हुए। अब मेक्सवेल ने अपने दूत एलन को एक पत्र देकर बोम्मु के पास भेजा। उसका कहना था कि चूँकि सब राजा कर दे रहे हैं, इसलिए चाहे

थोड़ा ही हो; पर वह कुछ कर अवश्य दे। लेकिन बोम्मु ने एलन को अपमानित कर दरबार से निकाल दिया।

अब अंग्रेजों ने जैक्सन नामक अधिकारी की नियुक्ति की। उसने बोम्मु को अकेले मिलने के लिए बुलाया; पर अपने गूँगे भाई के कहने पर वे अनेक विश्वस्त वीरों को साथ लेकर गये। वहाँ जैक्सन ने अपने साथी क्लार्क को बोम्मु को पकड़ने का आदेश दिया; पर बोम्मु ने इससे पहले ही क्लार्क का सिर कलम कर दिया। अब जैक्सन के बदले लूशिंगटन को भेजा गया। उसने फिर बोम्मु को बुलाया; पर बोम्मु ने मना कर दिया। इस पर कम्पनी ने मेजर जॉन बैनरमैन के नेतृत्व में सेना चढ़ा दी।

इस समय बोम्मु के भाई तथा सेनापति आदि जक्कम्मा देवी के मेले में गये हुए थे। बोम्मु ने उन्हें सन्देश भेजकर वापस बुलवा लिया और सेना एकत्र कर मुकाबला करने लगे। शुरू में तो उन्हें सफलता मिली; पर अन्ततः पीछे हटना पड़ा। वह अपने कुछ साथियों के साथ कोलारपट्टी के राजगोपाल नायक के पास पहुँचे; पर एक देशद्रोही एट्टप्पा ने शासन को सूचना दे दी। अतः उन्हें फिर जंगलों की शरण लेनी पड़ी।

कुछ दिन बाद पुदुकोट्टै के राजा तौण्डेमान ने उन्हें बुला लिया; पर वहां भी धोखा हुआ और वे भाइयों सहित गिरफ्तार कर लिये गये। १६ अक्तूबर १७९९ को कायात्तरु में उन्हें फाँसी दी गयी। फाँसी के लिए जब उन्हें वहाँ लाया गया, तो उन्होंने कहा कि मैं स्वयं फन्दा गले में डालूँगा। इस पर उनके हाथ खोल दिये गये। बोम्मु ने नीचे झुककर हाथ में मातृभूमि की मिट्टी ली। उसे माथे से लगाकर बोले – हे माँ, मैं फिर यहीं जन्म लूँगा और तुम्हें गुलामी से मुक्त कराऊँगा। यह कहकर उन्होंने फाँसी का फन्दा गले में डाला और नीचे रखी मेज पर लात मार दी।

❖

४ जनवरी पुण्य-तिथि

संकीर्तन से बाँध निर्माण

किसी भी नदी पर बाँध बनाना सरल काम नहीं है। उसमें आधुनिक तकनीक के साथ करोड़ों रुपये और अपार मानव श्रम लगता है; पर श्री हरिबाबा ने केवल हरिनाम–संकीर्तन के बल पर गंगा जी पर बाँध बनाकर लाखों ग्रामवासियों के जन–धन की रक्षा की।

श्री हरिबाबा का जन्म ग्राम मेंगखाला (होशियारपुर, पंजाब) में फाल्गुन शुक्ल १४, वि०सम्वत् १९४१ को श्री प्रतापसिंह जी के घर में हुआ था। उनका बचपन का नाम दीवान सिंह था। प्राथमिक शिक्षा के बाद उनके पिता ने उन्हें लाहौर के मैडिकल कॉलिजं में भर्ती करा दिया; पर तब तक वे सांसारिक बन्धन से मुक्त होने का मन बना चुके थे। अत: वे घर छोड़कर भ्रमण में लग गये।

उनके गुरु ने उन्हें दीक्षा देकर स्वत:प्रकाश नाम दिया; पर हर समय हरिनाम का संकीर्तन करते रहने के कारण वे 'हरिबाबा' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। हरिबाबा को गंगा माँ से बहुत प्रेम था। उत्तर प्रदेश के अनूपशहर में वे लम्बे समय तक गंगा के तट पर रहे और वेद–वेदान्तों का गहन अध्ययन किया। उनकी ख्याति सुनकर दूर–दूर से भक्त और सन्त–महात्मा वहाँ आने लगे।

श्री हरिबाबा चैतन्य महाप्रभु की तरह कीर्तन प्रेमी थे। वे गंगातट पर भ्रमण करते हुए भी कीर्तन करते रहते थे। घड़ियाल बजाते हुए जब वे नृत्य करते थे, तो सबके पाँव थिरकने लगते थे। एक बार वर्षाकाल में वे ग्राम गँवा (बदायूँ, उ०प्र०) के पास गंगा तट पर पहुँचे। उस समय गंगा जी का जल समुद्र की तरह दूर–दूर तक फैला हुआ था। किसानों की हजारों एकड़ फसल डूब गयी थी।

हजारों पशु भी बाढ़ में बह गये थे। श्री हरिबाबा से लोगों का यह दुख. नहीं देखा गया। उन्होंने वहाँ बाँध बनाकर उनकी विपत्ति दूर करने का निश्चय किया।

बाबा ने इसके लिए शासन से प्रार्थना की; पर उसने भारी खर्च का बहाना बना दिया। इस पर बाबा ने हरिबोल का उद्घोष किया और स्वयं टोकरी–फावड़ा लेकर जुट गये। यह देखकर गाँव के हजारों नर–नारी भी आ गये। बाबा हरिबोल के कीर्तन से सबका उत्साह बढ़ाने लगे। दूर–दूर तक इस बाँध की चर्चा फैल गयी। बड़े–बड़े सरकारी अधिकारी भी वहाँ आकर श्रमदान करने लगे। अगली वर्षा से पहले २० कि.मी. लम्बा मोलनपुर बाँध बन कर तैयार हो गया।

इस बाँध की विशेषता थी कि इसमें लूले, लंगड़े, कुष्ठरोगी, निर्धन, धनवान, स्वस्थ, बीमार सबने अपना योगदान दिया। धीरे–धीरे बाँध का नाम ही 'हरिबाबा बाँध' हो गया। बाँध बनने पर बाबा ने वहाँ विशाल संकीर्तन भवन, मन्दिर और साधु–सन्तों के लिए कुटिया बनवायीं। इससे वहाँ स्थायी रूप से धार्मिक आयोजन होने लगे। बाँध बनने के बाद भी उस क्षेत्र के लोग नशा तथा माँसाहार करते थे। बहुत कहने पर भी जब लोग इससे विरत नहीं हुए, तो बाबा अनशन पर बैठ गये। मजबूर होकर लोगों को इन कुरीतियों को छोड़ना पड़ा।

बाबा जी की सब देवी–देवताओं में आस्था थी। उन्होंने अपने गुरुस्थान होशियारपुर में एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर श्री गुरु ग्रन्थ साहब की स्थापना करवायी। अपने अन्तिम समय में वे काफी बीमार हो गये। सब चिकित्सकों ने जवाब दे दिया। यह देखकर आनन्दमयी माँ उन्हें अपने साथ काशी ले गयीं। वहीं श्री हरिबाबा चार जनवरी १९७० को भोर होने से पूर्व १.४० बजे अपनी नश्वर देह त्याग दी। उस समय भी वहाँ भक्तजन कीर्तन कर रहे थे।

❖

५ जनवरी पुण्य-तिथि

वीर रस के प्रसारक स्वामी शिवचरण लाल

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्त्ता अनेक गुण एवं प्रतिभाओं से विभूषित होते हैं। संघ में उनकी यह प्रतिभा और अधिक विकसित एवं प्रस्फुटित होती हैं। संघ की शाखा एवं अन्य कार्यक्रमों में गीत एवं कविता के माध्यम से भी संस्कार दिये जाते हैं। शिवचरण लाल जी ऐसे ही एक प्रचारक थे, जो विभिन्न कार्यक्रमों में वीर रस की कविताओं का इतने मनोयोग से पाठ करते थे कि श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। कविता समाप्त होने पर ऐसा लगता था मानो श्रोता सम्मोहन से छूटे हों।

शिवचरण लाल जी का जन्म नगीना, जिला बिजनौर, उत्तर प्रदेश में १९१३ ई० में एक व्यापारी परिवार में हुआ था। १९२९ ई० में उन्होंने हिन्दी तथा उर्दू से मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद हिन्दी में प्रभाकर (बी.ए) तथा फिर कनखल से संस्कृत में प्रथम श्रेणी में प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की। हिन्दी व संस्कृत के प्रति अनुराग होने के कारण उन्होंने धर्मग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इससे उनके मन में अध्यात्म के बीज अंकुरित हो गये।

१९३६ में नगीना में अल्मोड़ा से लामा योगियों की परम्परा में दीक्षित एक संन्यासी आये। वे योग व प्राणायाम की क्रियाओं में बहुत प्रवीण थे। शिवचरण लाल ज़ी उनसे प्रभावित होकर घर पर ही योगाभ्यास करने लगे। जब इस दिशा में रुचि कुछ अधिक बढ़ी, तो वे हर साल एक–दो महीने के लिए

उनके पास अल्मोड़ा जाने लगे। १९४४ तक वे उस संन्यासी के सम्पर्क में रहे। अध्यात्म के प्रति रुचि के कारण लोग उन्हें भी 'स्वामी जी' कहने लगे।

१९४४ में पिताजी के देहान्त के बाद दो साल तक उन्हें दुकान संभालनी पड़ी। इस दौरान वे संघ के सम्पर्क में आये और अनेक प्रशिक्षण वर्गों में भाग लिया। उस समय देश विभाजन की विभीषिका झेल रहा था। सब ओर हिन्दुओं की दुर्दशा थी। यह देखकर उनका ह्रदय रो उठता था। अन्ततः उन्होंने देश, धर्म एवं समाज की सेवा के लिए १९४७ में घर छोड़ दिया और प्रचारक बन गये।

प्रचारक होने के नाते उन्होंने उत्तर प्रदेश में अनेक स्थानों पर काम किया। १९४८ में गान्धी जी हत्या के बाद संघ पर लगे प्रतिबन्ध के समय सत्याग्रह कर वे जेल भी गये। वीर रस की कविताएँ याद कर उन्हें उच्च स्वर में सुनाना उनका शौक था। संघ के शिविरों में रात में सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। वहाँ उनकी कविताएँ बहुत रुचि से सुनी जाती थीं। जब वे हाथ उठाकर कविता बोलते थे, तो एक अद्‌भुत समाँ बँध जाता था।

१९७१ तक संघ के विभिन्न दायित्व निभाने के बाद उन्हें विश्व हिन्दू परिषद में भेजा गया। आठ वर्ष तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश में और फिर पूर्वी उ०प्र० में उन्होंने कार्य किया। संगठन ने उन्हें जो काम दिया, समर्पित भाव से उन्होंने उसे पूरा किया। जब उनकी अवस्था अधिक हो गयी, तो उन्हें अनेक रोगों ने घेर लिया। १९९७ में प्रवास से विश्राम देकर पहले हरिद्वार और फिर कारसेवकपुरम्, अयोध्या में उनका केन्द्र बनाया गया। अयोध्या में ही पाँच जनवरी २००७ को ब्राह्ममुहूर्त में उनका शरीरान्त हुआ।

शिवचरण लाल जी ने श्री गुरुजी, दीनदयाल जी, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, लोकमान्य तिलक, आद्य गुरु शंकराचार्य, स्वामी विद्यारण्य आदि के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। अपने भाषण में वे इनके उद्धरण भी देते थे। उनके भाषणों का संग्रह 'हिन्दू धर्म दर्शन' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

❖

६ जनवरी पुण्य-तिथि

जयपुर फुट के निर्माता डा0 प्रमोद करण सेठी

यदि किसी व्यक्ति का कोई अंग जन्म से न हो, या किसी दुर्घटना में वह अपंग हो जाए, तो उसकी पीड़ा समझना बहुत कठिन है। अपने आसपास हँसते–खेलते, दौड़ते–भागते लोगों को देखकर उसका मन में भी यह सब करने की उमंग उठती है; पर शारीरिक विकलांगता के कारण वह यह कर नहीं सकता। पैर से विकलांग हुए ऐसे लोगों के जीवन में आशा की किरण बन कर आये डा० प्रमोद करण सेठी, जिन्होंने 'जयपुर फुट' का निर्माण कर हजारों विकलांगों को चलने योग्य बनाया।

डा० सेठी का जन्म २८ नवम्बर, १९२७ को वाराणसी (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनके पिता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भौतिक शास्त्र के प्राध्यापक थे। अत: पढ़ने–लिखने का वातावरण उन्हें बचपन से ही मिला। प्रारम्भिक शिक्षा पूर्णकर उन्होंने सरोजिनी नायडू चिकित्सा महाविद्यालय, आगरा से १९४९ में चिकित्सा स्नातक और फिर १९५२ में परास्नातक की उपाधि प्राप्त की।

यों तो एक चिकित्सक के लिए यह डिग्रियाँ बहुत होती हैं; पर डा० सेठी की शिक्षा की भूख समाप्त नहीं हुई। उनकी रुचि शल्य चिकित्सा में थी, अत: उन्होंने विदेश का रुख किया और एडिनबर्ग के रॉयल मैडिकल कॉलिज ऑफ सर्जन्स में प्रवेश ले लिया। १९५४ में यहाँ से एफ.आर.सी.एस. की उपाधि लेकर वे भारत लौटे और जयपुर के सवाई मानसिंह चिकित्सा महाविद्यालय में

शल्य क्रिया विभाग में प्राध्यापक बन गये।

१९८२ तक डा० सेठी इसी महाविद्यालय में काम करते रहे। इसके साथ ही उन्होंने सन्तोखबा दुरलाभजी स्मृति चिकित्सालय में अस्थियों पर विस्तृत शोध किया। इससे दूर–दूर तक उनकी ख्याति एक अस्थि विशेषज्ञ के रूप में हो गयी। जब डा० सेठी किसी पैर से अपंग व्यक्ति को देखते थे, तो उनके मन में बड़ी पीड़ा होती थी। अत: वे ऐसे कृत्रिम पैर के निर्माण में जुट गये, जिससे अपंग व्यक्ति भी स्वाभाविक रूप से चल सके।

धीरे–धीरे उनकी साधना रंग लाई और वे ऐसे पैर के निर्माण में सफल हों गये। उन्होंने इसे 'जयपुर फुट' नाम दिया। कुछ ही समय में पूरी दुनिया में यह पैर और इसके निर्माता डा० सेठी का नाम विख्यात हो गया। इससे पूर्व लकड़ी की टाँग का प्रचलन था। इससे व्यक्ति पैर को मोड़ नहीं सकता था; पर जयपुर फुट में रबड़ का ऐसा घुटना भी बनाया गया, जिससे पैर मुड़ सकता था। थोड़े अभ्यास के बाद व्यक्ति इससे स्वाभाविक रूप से चलने लगता था और देखने वाले को उसकी विकलांगता का पता ही नहीं लगता था। इससे उसके आत्मविश्वास में बहुत वृद्धि होती थी।

जयपुर फुट का प्रयोग दुनिया के अनेक प्रमुख लोगों ने किया। इनमें भारत की प्रसिद्ध नृत्यांगना सुधा चन्द्रन भी है। एक फिल्म निर्माता ने उसकी अपंगता और फिर से कुशल नर्तकी बनने की कहानी को फिल्म 'नाचे मयूरी' के माध्यम से पर्दे पर उतारा। इससे डा० सेठी का नाम घर–घर में पहचाना जाने लगा। इसके बाद भी डा० सेठी ने विश्राम नहीं लिया। वे इसमें और संशोधन करने में लगे रहे। डा० सेठी की इन उपलब्धियों के कारण उन्हें डा० बी.सी. राय पुरस्कार, रेमन मैगसेसे पुरस्कार, गिनीज पुरस्कार आदि अनेक विश्वविख्यात सम्मानों से अलंकृत किया गया।

लाखों विकलांगों के जीवन में नया उजाला भरने वाले डा० प्रमोद करण सेठी का निधन ६ जनवरी, २००८ को हुआ।

७ जनवरी | जन्म-दिवस

कलाकारों के कलाकार : योगेन्द्र बाबा

कला की साधना अत्यन्त कठिन है। वर्षों के अभ्यास एवं परिश्रम से कोई कला सिद्ध होती है; पर कलाकारों को बटोरना उससे भी अधिक कठिन है, क्योंकि हर कलाकार के अपने नखरे रहते हैं। 'संस्कार भारती' के संस्थापक श्री योगेन्द्र जी ऐसे ही कलाकार हैं, जिन्होंने हजारों कला साधकों को एक माला में पिरोने का कठिन काम कर दिखाया है। ७ जनवरी १९२४ को बस्ती, उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध वकील बाबू विजय बहादुर श्रीवास्तव के घर जन्मे योगेन्द्र जी के सिर से दो वर्ष की अवस्था में ही माँ का साया उठ गया। फिर उन्हें पड़ोस के एक परिवार में बेच दिया गया। इसके पीछे यह मान्यता थी कि इससे बच्चा दीर्घायु होगा। उस पड़ोसी माँ ने ही अगले दस साल तक उन्हें पाला।

वकील साहब कांग्रेस और आर्यसमाज से जुड़े थे। जब मोहल्ले में संघ की शाखा लगने लगी, तो उन्होंने योगेन्द्र को भी वहाँ जाने के लिए कहा। छात्र जीवन में उनका सम्पर्क गोरखपुर में संघ के प्रचारक नानाजी देशमुख से हुआ। योगेन्द्र जी यद्यपि सायं शाखा में जाते थे; पर नानाजी प्रतिदिन प्रात: उन्हें जगाने आते थे, जिससे वे पढ़ सकें। एक बार तो तेज बुखार की स्थिति में नानाजी उन्हें कन्धे पर लादकर डेढ़ कि.मी. पैदल चलकर पडरौना गये और उनका इलाज कराया। इसका प्रभाव योगेन्द्र जी पर इतना पड़ा कि उन्होंने शिक्षा पूर्ण कर स्वयं को संघ क़ार्य के लिए ही समर्पित करने का निश्चय कर लिया।

योगेन्द्र जी ने १९४२ में लखनऊ में प्रथम वर्ष 'संघ शिक्षा वर्ग' का प्रशिक्षण लिया। १९४५ में वे प्रचारक बने और गोरखपुर, प्रयाग, बरेली, बदायूँ,

सीतापुर आदि स्थानों पर संघ कार्य किया; पर उनके मन में एक सुप्त कलाकार सदा मचलता रहता था। देश–विभाजन के समय उन्होंने एक प्रदर्शिनी बनायी। जिसने भी इसे देखा, वह अपनी आँखें पोंछने को मजबूर हो गया। फिर तो ऐसी प्रदर्शिनियों का सिलसिला चल पड़ा। शिवाजी, धर्म गंगा, जनता की पुकार, जलता कश्मीर, संकट में गोमाता, १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की अमर गाथा, विदेशी षड्यन्त्र, माँ की पुकार...आदि ने संवेदनशील मनों को झकझोर दिया। 'भारत की विश्व को देन' नामक प्रदर्शिनी को विदेशों में भी प्रशंसा मिली।

संघ नेतृत्व ने योगेन्द्र जी की इस प्रतिभा को देखकर १९८१ ई० में 'संस्कार भारती' नामक संगठन का निर्माण कर उसका कार्यभार उन्हें सौंप दिया। योगेन्द्र जी के अथक परिश्रम से यह आज कलाकारों की अग्रणी संस्था बन गयी है। अब तो इसकी शाखाएँ विश्व के अनेक देशों में स्थापित हो चुकी हैं। योगेन्द्र जी शुरू से ही बड़े कलाकारों के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने नये लोगों को मञ्च दिया और धीरे–धीरे वे ही बड़े कलाकार बन गये। इस प्रकार उन्होंने कलाकारों की नयी सेना तैयार कर दी।

योगेन्द्र जी की सरलता एवं अहंकारशून्यता उनकी बड़ी विशेषता है। किसी प्रदर्शिनी के निर्माण में वे आज भी एक साधारण मजदूर की तरह काम में जुट जाते हैं। जब अपनी खनकदार आवाज में वे किसी कार्यक्रम का 'आँखों देखा हाल' सुनाते हैं, तो लगता है, मानो आकाशवाणी से कोई बोल रहा है। उनका हस्तलेख मोतियों जैसा है। इसीलिए उनके पत्रों को लोग संभालकर रखते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि योगेन्द्र जी 'बाबा' दीर्घायु रहकर इसी प्रकार कला के माध्यम से देशसेवा करते रहें।

❖

७ जनवरी पुण्य-तिथि

सादगी की प्रतिमूर्ति श्री लक्ष्मण श्रीकृष्ण भिड़े

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य को विश्वव्यापी रूप देने में अप्रतिम भूमिका निभाने वाले श्री लक्ष्मण श्रीकृष्ण भिड़े का जन्म अकोला, महाराष्ट्र में १९१८ में हुआ था। उनके पिता श्री श्रीकृष्ण भिड़े सार्वजनिक निर्माण विभाग में कार्यरत थे। छात्र जीवन से ही उनमें सेवाभाव कूट–कूट कर भरा था। १९३२–३३ में जब चन्द्रपुर में भयानक बाढ़ आयी, तो अपनी जान पर खेलकर उन्होंने अनेक परिवारों की रक्षा की। एक बार माँ को बिच्छू के काटने पर उन्होंने तुरन्त अपना जनेऊ माँ के पैर में बाँध दिया। इससे रक्त का प्रवाह बन्द हो गया और माँ की जान बच गयी।

चन्द्रपुर में उनका सम्पर्क संघ से हुआ। वे बाबासाहब आप्टे से बहुत प्रभावित थे। १९४१ में वे प्रचारक बने तथा १९४२ में उन्हें लखनऊ भेज दिया गया। १९४२ से ५७ तक उन्होंने उत्तर प्रदेश में अनेक स्थानों एवं दायित्वों पर रहते हुए कार्य किया। १९५७ में उन्हें कीनिया भेजा गया। १९६१ में वे फिर उत्तर प्रदेश में आ गये। १९७३ में उन्हें विश्व विभाग का कार्य दिया गया। इसके बाद बीस साल तक उन्होंने उन देशों का भ्रमण किया, जहाँ हिन्दू रहते हैं।

विदेशों में हिन्दू हित एवं भारत हित में उन्होंने अनेक संस्थाएँ बनायीं। इनमें १९७८ में स्थापित 'फ्रेन्डस ऑफ इण्डिया सोसायटी इण्टरनेशनल' प्रमुख है। १९९० में जब भारतीय दूतावास ही विदेशों में भारतीय जनता पार्टी की छवि धूमिल कर रहा था, तो उन्होंने 'ओवरसीज फ्रेन्डस ऑफ बी.जे.पी' का गठन कर

कांग्रेसी षड्यन्त्र को विफल किया। जब मॉरीशस के चुनाव में गुटबाजी के कारण हिन्दुओं की दुर्दशा होने लगी, तो उन्होंने सबको बैठाकर समझौता कराया। इससे फिर से हिन्दू वहाँ विजयी हुए।

शरीर से बहुत दुबले भिड़े जी सादगी की जीवन्त प्रतिमूर्ति थे। उनका खर्चा भी बहुत कम होता था। विदेश प्रवास में कार्यकर्त्ता जबरन उनकी जेब में कुछ डॉलर डाल देते थे; पर लौटने पर वह वैसे ही रखे मिलते थे। वैश्विक प्रवास में ठण्डे देशों में वे कोट–पैंट पहन लेते थे; पर भारत में सदा वे धोती–कुर्ते में ही नजर आते थे। १९९२ में वे दीनदयाल शोध संस्थान के अध्यक्ष बने। वहाँ उनके कक्ष में लगे वातानुकूलन यन्त्र (ए.सी) को उन्होंने कभी नहीं खोला। उस कक्ष की आल्मारियाँ सदा खाली ही रहीं, क्योंकि उनके पास निजी सामान कुछ विशेष था ही नहीं।

निरन्तर कष्टपूर्ण प्रवास के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। अन्तिम कुछ महीनों में उन्हें गले सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। इस कारण उनकी वाणी चली गयी। बहुत कठिनाई से कुछ तरल पदार्थ उनके गले से नीचे उतरते थे। फिर भी वे सबसे प्रसन्नता से मिलते थे तथा स्लेट पर लिखकर वार्तालाप करते थे।

दिसम्बर २००० में मुम्बई में 'विश्व संघ शिविर' हुआ। खराब स्वास्थ्य के बावजूद वे वहाँ गये। विश्व भर के हजारों परिवारों में उन्हें बाबा, नाना, काका जैसा प्रेम और आदर मिलता था। यद्यपि वे बोल नहीं सकते थे; पर सबसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ सबके नाम लिखा उनका एक मार्मिक पत्र पढ़ा गया, जिसमें उन्होंने सबसे विदा माँगी थी। उन्होंने सन्त तुकाराम के शब्दों को दोहराया – आमी जातो आपुल्या गावा, आमुचा राम–राम ध्यावा। पत्र पढ़ और सुनकर सबकी आँखें भीग गयीं।

शिविर समाप्ति के एक सप्ताह बाद सात जनवरी २००१ को उन्होंने सचमुच ही सबसे विदा ले ली।

❖

८ जनवरी पुण्य-तिथि

राष्ट्र आराधन के स्वर चन्द्रकान्त भारद्वाज

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा पर खेल, व्यायाम, आसन, चर्चा आदि के माध्यम से संस्कार देने का सफल प्रयोग चलता है। इनमें वहाँ गाये जाने वाले गीतों की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण होती है। ये गीत व्यक्ति के अन्तर्मन को छूते हैं। ऐसे ही सैकड़ों प्रेरक और हृदयस्पर्शी गीतों के लेखक थे श्री चन्द्रकान्त भारद्वाज, जिनका आठ जनवरी २००७ को दिल्ली में देहान्त हुआ।

१९२० ई० में चन्द्रकान्त जी का जन्म ग्राम किरठल, जिला बागपत, उत्तर प्रदेश में वसन्त पञ्चमी के पावन दिन हुआ था। उनके पिता श्री देव शर्मा कोटा रियासत में अध्यापक थे। माता श्रीमती मालादेवी भी विदुषी एवं धर्मप्रेमी महिला थीं। चन्द्रकान्त जी चार भाइयों में सबसे बड़े थे। दिल्ली में बी.एस–सी में पढ़ते समय वे स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़े। १९४२ में दिल्ली के किंग्जवे कैंप स्थित पीली कोठी को आग लगाने गयी टोली में चन्द्रकान्त जी भी शामिल थे। वहाँ उन्हें गोली भी लगी थी।

१९४२ का आन्दोलन विफल होने के बाद चन्द्रकान्त जी संघ की ओर आकर्षित हुए। धीरे–धीरे चारों भाई शाखा में जाने लगे। यहाँ तक कि १९४५ में मेरठ में लगे संघ शिक्षा वर्ग में चारों भाई प्रशिक्षण लेने आये थे। १९४७ से १९५२ तक चन्द्रकान्त जी उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ और मैनपुरी में जिला प्रचारक रहे। प्रचारक जीवन से लौटकर उन्होंने बी.एड किया और अध्यापक बन

गये। १९५४ में उन्होंने विमला देवी के साथ गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। शिक्षा में रुचि के कारण १९४२ में गणित में एम.एस–सी करने के बाद उन्होंने १९६२ में हिन्दी में एम.ए और फिर १९६६ में छन्दशास्त्र में पी–एच.डी की उपाधि ली।

चन्द्रकान्त जी को शुरू से ही साहित्य और विशेषकर काव्य के क्षेत्र में रुचि थी। देश में कोई भी घटना घटित होती, उनका कवि हृदय उसके अनुकूल कोई गीत लिख देता था। १९६४–६५ में दिल्ली में सरसंघचालक पूज्य श्री गुरुजी का भव्य सार्वजनिक कार्यक्रम में भाषण होना था। चन्द्रकान्त जी ने गीत लिखा – खड़ा हिमालय बता रहा है, डरो न आँधी पानी से। निरञ्जन आप्टे ने उसे पूरे मनोयोग से गाया। गीत के शब्द, स्वर और लय से वातावरण भावुक हो गया। श्री गुरुजी ने कहा कि अब मुझे भाषण देने की आवश्यकता नहीं है। जो मैं कहना चाहता हूँ, वह इस गीत में कह दिया गया है। चन्द्रकान्त जी के छोटे भाई डा० श्रीकान्त जी भी अच्छे कवि हैं।

यह तो केवल एक उदाहरण है। ऐसे सैकड़ों गीत स्वयंसेवकों की जिह्वा पर चढ़कर अमर हुए हैं। ओ भगीरथ चरण चिन्हों पर उमड़ते आ रहे हम, बढ़ते जाना–बढ़ते जाना, विश्व मंगल साधना के हम हैं मौन पुजारी, राष्ट्र में नवतेज जागा, पुरानी नींव नया निर्माण, अरुणोदय हो चुका वीर अब, ले चले हम राष्ट्र नौका को भँवर से पार कर, युग–युग से स्वप्न सँजोये जो, नया युग करना है निर्माण, हिन्दू जगे तो विश्व जगेगा, लोकमन संस्कार करना, मानवता के लिए उषा की..., पथ का अंतिम लक्ष्य नहीं है सिंहासन चढ़ते जाना....आदि गीतों की एक विराट मालिका है।

वे नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध लेखन, अनुवाद तथा सम्पादन में भी सिद्धहस्त थे। चरण कमल, खून पसीना और गीत तथा जागरण गीत नामक पुस्तक में उनके कुछ गीत संकलित हैं। हर्षवर्धन (नाटक) और शरच्चन्द्रिका (उपन्यास) भी प्रकाशित हुए हैं। इसके बाद भी उनका बहुत सा साहित्य अप्रकाशित है।

❖

८ जनवरी पुण्य-तिथि

भारत सेवाश्रम संघ के संस्थापक स्वामी प्रणवानन्द

भारत सेवाश्रम संघ के संस्थापक स्वामी प्रणवानन्द जी का जन्म सन २९ जनवरी १८९६ (माघ पूर्णिमा) को ग्राम बाजिदपुर, जिला फरीदपुर (वर्तमान बांग्लादेश) में हुआ था। उनके पिता विष्णुचरण दास एवं माता शारदा देवी शिवभक्त थे। सन्तान्न न होने पर उन्होंने शिव जी से प्रार्थना की। इस पर भोले शंकर ने उनकी माता को स्वप्न में दर्शन देकर स्वयं उनके पुत्र रूप में आने की बात कही। बुधवार को जन्म लेने के कारण उन्हें बुधो कहा जाने लगा।

जन्म के समय बालक रोया नहीं। वह किसी की गोद में नहीं जाता था, भूख लगने पर भी चुप रहता था। सबको चिन्ता हुई कि लड़का कहीं गूँगा—बहरा तो नहीं है। वे लोग नहीं जानते थे कि इस अवस्था में भी शिशु पाँच छह घण्टे ध्यान करता है। कुछ बड़े होने पर कभी—कभी वे गायब हो जाते थे और खोजने पर बाग में पेड़ के नीचे ध्यानरत मिलते। कभी—कभी वे मिट्टी का शिवलिंग बना कर उसे पूजते थे। आगे चलकर उनका नाम विनोद रखा गया।

जैसे—जैसे वे बड़े होते गये, उनके ध्यान का समय भी बढ़ता गया। माता—पिता ने उन्हें गाँव की पाठशाला में भर्ती कर दिया; पर वहाँ भी वे ध्यानमग्न ही रहते थे। वहाँ की पढ़ाई खत्म होने पर उन्हें एक अंग्रेजी विद्यालय में भर्ती किया गया। वे कक्षा में अन्तिम पंक्ति में बैठते थे और नाम पुकारने पर ऐसे बोलते थे, जैसे नींद से जागे हों। उन्हें शोर और शरारत पसन्द नहीं थी।

फिर भी वह सब बच्चों और अध्यापकों के प्रिय थे। बलिष्ठ होने के कारण खेलकूद में हर कोई उन्हें अपने दल में रखना चाहता था।

क्रान्तिकारियों से सम्पर्क के कारण एक बार पुलिस उन्हें पकड़ ले गई। उन्हें कई महीने तक जेल में रहना पड़ा। वे अपने विप्लवी प्राचार्य सन्तोष दत्त से प्रायः संन्यास लेने की बात कहते थे। इस पर प्राचार्य ने उन्हें गोरखपुर के बाबा गम्भीरनाथ के पास भेजा। उन्होंने विनोद को १९१३ ई० में विजयादशमी के दूसरे दिन ब्रह्मचारी की दीक्षा दी। अब तो वे कई–कई घण्टे समाधि में पड़े रहते। उनके गुरुजी ही उन्हें बुलाकर कुछ खिला देते थे।

गोरखपुर में आठ महीने रहकर गुरुजी के आदेश से वे काशी आ गये। यहाँ से वे अपने जन्मस्थान बाजिदपुर लौट गए। उन्हें १९१६ ई० में माघ पूर्णिमा को शिव तत्व की प्राप्ति हुई। इसके एक साल बाद उन्होंने गरीब, भूखे, असहाय और पीड़ित लोगों की सहायता के लिए बाजिदपुर में आश्रम की स्थापना की। सन १९१९ में बंगाल में भारी चक्रवात आया, जिसमें उन्होंने व्यापक सहायता कार्य चलाया। उनका दूसरा आश्रम मदारीपुर में बना।

उन्होंने १९२४ ई० में पौष पूर्णिमा के दिन स्वामी गोविन्दानन्द गिरि से संन्यास की दीक्षा ली। अब उनका नाम स्वामी प्रणवानन्द हो गया। उसके बाद उन्होंने गया, पुरी, काशी, प्रयाग आदि स्थानों पर संघ के आश्रमों की स्थापना की। तभी से 'भारत सेवाश्रम संघ' विपत्ति के समय सेवा कार्यों में जुटा हुआ है। उन्होंने समाजसेवा, तीर्थसंस्कार, धार्मिक और नैतिक आदर्श का प्रचार, गुरु पूजा के प्रति जागरूकता जैसे अनेकों कार्य किए।

इस समय भारत सेवाश्रम संघ के देश–विदेश में लगभग ७५ आश्रम कार्यरत हैं। ८ जनवरी १९४१ को अपना जीवन–कार्य पूरा कर उन्होंने देह त्याग दी। अब उनके बताए आदर्शों पर उनके अनुयायी संघ को चला रहे हैं।

❖

९ जनवरी जन्म-दिवस

सरलचित्त प्रचारक श्री तिलकराज कपूर

श्री तिलकराज कपूर का नाम सुनते ही सरलचित्त व्यक्ति का चित्र आँखों में उभर आता है। कन्धे पर कपड़ों और पुस्तकों से भरा झोला। हाथ में अंग्रेजी के समाचारपत्र। किसी हल्के रंग की कमीज, सफेद ढीला पाजामा और टायर सोल की चप्पल। बस ऐसे ही व्यक्तित्व का नाम था तिलकराज कपूर।

९ जनवरी १९२५ को जालन्धर में एक समृद्ध घर में जन्मे तिलक जी १९४५ में एम.ए, एल.एल.बी. कर प्रचारक बने। परीक्षा में उनके प्राय: ९० प्रतिशत से अधिक अंक आते थे। एल.एल.बी में उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान पाया था; वे चाहते तो सर्वोच्च न्यायालय में वकील बन सकते थे; पर वे सुख–वैभव को ठुकराकर संघ के जीवनव्रती प्रचारक बन गये।

१९४५ में उनकी नियुक्ति मुजफ्फरनगर में हुई। १९४८ में प्रतिबन्ध के समय वहीं उन्होंने सत्याग्रह किया। १९७१ से १९७७ तक वे मुजफ्फरनगर के ही जिला प्रचारक थे। आपातकाल लगने पर पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया और अनेक यातनाएँ दीं। होश में आने पर उन्होंने स्वयं को जेल में पाया; पर मीसा नहीं लगा होने के कारण वे कुछ माह बाद ही छूट गये। पुलिस उन्हें फिर बन्द करना चाहती थी; पर जेल से निकलते ही कार्यकर्त्ता उन्हें कार में बैठाकर जिले से बाहर ले गये। पुलिस हाथ मलती रह गयी।

संघ के अनेक दायित्व निभाने के बाद १९८० में उन्हें वनवासी कल्याण

आश्रम का पश्चिमी उत्तर प्रदेश का संगठन मन्त्री बनाया गया। यहाँ वनवासी क्षेत्र और सेवा प्रकल्प तो थे नहीं; पर तिलक जी ने लाखों रुपये प्रतिवर्ष एकत्र कर झारखण्ड, उड़ीसा, असम, छत्तीसगढ़ आदि के वनवासी केन्द्रों को भेजे। तिलक जी पत्र–व्यवहार बहुत करते थे। सुबह चार बजे उठकर एक–डेढ़ घण्टा पत्र लिखना उनका नियमित काम था। इससे ही वे सबसे सम्बन्ध बनाकर रखते थे। वनवासी क्षेत्र की हिंन्दू गतिविधियों तथा खतरनाक ईसाई षड्यन्त्रों के समाचार वे सबके पास भेजते थे। फिर उन्हें दीपावली एवं वर्ष प्रतिपदा पर अभिनन्दन पत्र भी भेजते थे। यही लोग उन्हें सेवा कार्यों के लिए धन देते थे।

तिलक जी का दूसरा शौक था पुस्तक पढ़ना और पढ़वाना। वे हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू और पंजाबी के अच्छे ज्ञाता थे। जहाँ भी वे रहे, वहाँ बुद्धिजीवी वर्ग से इसी माध्यम से उन्होंने सम्बन्ध बनाये। प्रचारक को स्वयं पर कम से कम खर्च करना चाहिए, इस सोच के चलते उन्होंने आँखें कमजोर होने पर भी लम्बे समय तक चश्मा नहीं बनवाया। इससे उनकी एक आँख बेकार हो गयी। वे हँसी में कहते थे कि अब मैं राजा रणजीत सिंह बन गया हूँ। इसके बाद भी उनका पढ़ने और लिखने का क्रम चालू रहा।

तिलक जी की नियमित दिनचर्या की दूर–दूर तक चर्चा होती थी। सुबह चार बजे गिलास भर कड़क चाय पीकर निवृत्त होना। फिर पत्र–व्यवहार और प्रभात शाखा के लिए जागरण। प्रात: का अल्पाहार वे नहीं करते थे। दोपहर को भोजन करते ही एक–डेढ़ घण्टे सोना भी उनकी आदत थी। उठकर फिर गिलास भर चाय पीकर लोगों से मिलने जाना। यदि किसी व्यस्तता के कारण विश्राम सम्भव न हो, तो वे दोपहर को भोजन ही नहीं करते थे। इस नियमितता के कारण उन्हें बीमार पड़ते कम ही देखा गया था।

सरलता की प्रतिमूर्ति तिलक जी इसी प्रकार सक्रिय जीवन बिताते हुए सात अक्तूबर २००७ को अनन्त की यात्रा पर चले गये।

❖

१० जनवरी पुण्य-तिथि

द्वितीय विश्वयुद्ध के साहसी न्यायाधीश

अनेक भारतीय ऐसे हैं जिन्हें विदेशों में तो सम्मान मिलता है; पर अपने देशवासी उन्हें प्राय: स्मरण नहीं करते। डा० राधाविनोद पाल वैश्विक ख्याति के ऐसे ही विधिवेत्ता तथा न्यायाधीश थे, जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जापान के विरुद्ध चलाये गये अन्तरराष्ट्रीय मुकदमे में मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध निर्णय देने का साहस किया था, जबकि उस समय विजयी होने के कारण मित्र राष्ट्रों का दु:साहस बहुत बढ़ा हुआ था।

मित्र राष्ट्र अर्थात अमरीका, ब्रिटेन, फ्रान्स आदि देश जापान को दण्ड देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने युद्ध की समाप्ति के बाद 'क्लास ए वार क्राइम्स' नामक एक नया कानून बनाया, जिसके अन्तर्गत आक्रमण करने वाले को मानवता तथा शान्ति के विरुद्ध अपराधी माना गया था। इसके आधार पर जापान के तत्कालीन प्रधानमन्त्री हिदेकी तोजो तथा दो दर्जन अन्य नेता व सैनिक अधिकारियों को युद्ध अपराधी बनाकर कटघरे में खड़ा कर दिया। ११ विजेता देशों द्वारा १९४६ में निर्मित इस अन्तरराष्ट्रीय न्यायाधिकरण (इण्टरनेशनल मिलट्री ट्रिब्यूनल फार दि ईस्ट) में डा० राधाविनोद पाल को ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रतिनिधि बनाया था।

इस मुकदमे में दस न्यायाधीशों ने तोजो को मृत्युदण्ड दिया; पर डा० राधाविनोद पाल ने न केवल इसका विरोध किया, बल्कि इस न्यायाधिकरण को ही अवैध बताया। इसलिए जापान में आज भी उन्हें एक महान् व्यक्ति की तरह सम्मान दिया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के लगभग

२० लाख सैनिक तथा नागरिक मारे गये थे। राजधानी टोक्यो में उनका स्मारक बना है। इसे जापान के लोग मन्दिर की तरह पूजते हैं। यासुकूनी नामक इस समाधि स्थल पर डा० राधाविनोद का स्मारक भी बना है।

जापान के सर्वोच्च धर्मपुरोहित नानबू तोशियाकी ने डा० राधाविनोद की प्रशस्ति में लिखा है कि हम यहाँ डा० पाल के जोश और साहस का सम्मान करते हैं, जिन्होंने वैधानिक व्यवस्था और ऐतिहासिक औचित्य की रक्षा की। हम इस स्मारक में उनके महान कृत्यों को अंकित करते हैं, जिससे उनके सत्कार्यों को सदा के लिए जापान की जनता के लिए धरोहर बना सकें। आज जब मित्र राष्ट्रों की बदला लेने की तीव्र लालसा और ऐतिहासिक पूर्वाग्रह ठण्डे हो रहे हैं, सभ्य संसार में डा० राधाविनोद पाल के निर्णय को सामान्य रूप से अन्तरराष्ट्रीय कानून का आधार मान लिया गया है।

डा० पाल का जन्म २७ जनवरी, १८८६ को हुआ था। कोलकाता के प्रेसिडेन्सी कॉलिज तथा कोलकाता विश्वविद्यालय से कानून की शिक्षा पूर्ण कर वे इसी विश्वविद्यालय में १९२३ से १९३६ तक अध्यापक रहे। १९४१ में उन्हें कोलकाता उच्च न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त किया गया। वह तत्कालीन अंग्रेज शासन के सलाहकार भी रहे। यद्यपि उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय कानून का औपचारिक प्रशिक्षण नहीं लिया था, फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब जापान के विरुद्ध 'टोक्यो ट्रायल्ज' नामक मुकदमा शुरू किया गया, तो उन्हें इसमें न्यायाधीश बनाया गया।

डा० पाल ने अपने निर्णय में लिखा कि किसी घटना के घटित होने के बाद उसके बारे में कानून बनाना नितान्त अनुचित है। उनके इस निर्णय की सभी ने सराहना की। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में डा० पाल ने निर्धनता के कारण अत्यन्त कष्ट भोगते हुए १० जनवरी, १९६७ को यह संसार छोड़ दिया।

❖

११ जनवरी बलिदान-दिवस

देशभक्त सरदार सेवासिंह

भारत की आजादी के लिए भारत में हर ओर लोग प्रयत्न कर ही रहे थे; पर अनेक वीर ऐसे थे, जो विदेशों में आजादी की अलख जगा रहे थे। वे भारत के क्रान्तिकारियों को अस्त्र–शस्त्र भेजते थे। ऐसे ही एक क्रान्तिवीर थे सरदार सेवासिंह, जो कनाडा में रहकर यह काम कर रहे थे।

सेवासिंह थे तो मूलत: पंजाब के; पर वे अपने अनेक मित्र एवं सम्बन्धियों की तरह काम की खोज में कनाडा चले गये थे। उनके दिल में देश को स्वतन्त्र कराने की आग जल रही थी। प्रवासी सिक्खों को अंग्रेज अधिकारी अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। मिस्टर हॉप्सिन नामक एक अधिकारी ने एक देशद्रोही बेलासिंह को अपने साथ मिलाकर दो सगे भाइयों भागासिंह और वतनसिंह की गुरुद्वारे में हत्या करा दी। इससे सेवासिंह की आँखों में खून उतर आया। उसने सोचा यदि हॉप्सिन को सजा नहीं दी गयी, तो वह इसी तरह अन्य भारतीयों की भी हत्याएँ कराता रहेगा।

सेवासिंह ने सोचा कि हॉप्सिन को दोस्ती के जाल में फँसाकर मारा जाये। इसलिए उसने हाप्सिन से अच्छे सम्बन्ध बना लिये। हॉप्सिन ने सेवासिंह को लालच दिया कि यदि वह बलवन्तसिंह को मार दे, तो उसे अच्छी नौकरी दिला दी जायेगी। सेवासिंह इसके लिए तैयार हो गया। हॉप्सिन ने उसे इसके लिए एक पिस्तौल और सैकड़ों कारतूस दिये। सेवासिंह ने उसे वचन दिया कि शिकार कर उसे पिस्तौल वापस दे देगा।

अब सेवासिंह ने अपना पैसा खर्च कर और कारतूस भी खरीदे और

निशानेबाजी का खूब अभ्यास किया। जब उनका हाथ सध गया, तो वह हॉप्सिन की कोठी पर जा पहुँचा। उनके वहाँ आने पर कोई रोक नहीं थी। चौकीदार उन्हें पहचानता ही था। सेवासिंह के हाथ में पिस्तौल थी। यह देखकर हॉप्सिन ने ओट में होकर उसका हाथ पकड़ लिया। सेवासिंह एक बार तो हतप्रभ रह गया; पर फिर संभल कर बोला – ये पिस्तौल आप रख लें। इसके कारण लोग मुझे अंग्रेजों का मुखबिर समझने लगे हैं। इस पर हॉप्सिन ने उससे क्षमा माँगते हुए उसे फिर से पिस्तौल सौंप दी।

अगले दिन न्यायालय में वतनसिंह हत्याकाण्ड में गवाह के रूप में सेवासिंह की पेशी थी। हॉप्सिन भी वहाँ मौजूद था। जज ने सेवासिंह से पूछा, जब वतनसिंह की हत्या हुई, तो क्या तुम वहीं थे। सेवासिंह ने हाँ कहा। जज ने फिर पूछा, हत्या कैसे हुई ? सेवासिंह ने देखा कि हॉप्सिन उसके बिल्कुल पास ही है। उसने जेब से भरी हुई पिस्तौल निकाली और हॉप्सिन पर खाली करते हुए बोला – इस तरह। हॉप्सिन का वहीं प्राणान्त हो गया।

न्यायालय में खलबली मच गयी। सेवासिंह ने पिस्तौल हॉप्सिन के ऊपर फेंकी और कहा, ले सँभाल अपनी पिस्तौल। अपने वचन के अनुसार मैं शिकार कर इसे लौटा रहा हूँ। सेवासिंह को पकड़ लिया गया। उन्होंने भागने या बचने का कोई प्रयास नहीं किया; क्योंकि वह तो बलिदानी बाना पहन चुके थे। उन्होंने कहा, मैंने हॉप्सिन को जानबूझ कर मारा है। यह दो देशभक्तों की हत्या का बदला है। जो गालियाँ भारतीयों को दी जाती है, उनकी कीमत मैंने वसूल ली है। जय हिन्द।

उस दिन के बाद पूरे कनाडा में भारतीयों को गाली देने की किसी की हिम्मत नहीं हुई। ११ जनवरी १९१५ को इस वीर को बैंकूवर की जेल में फाँसी दे दी गयी।

❖

१२ जनवरी जन्म-तिथि

विश्वविजेता : स्वामी विवेकानन्द

यदि कोई यह पूछे कि वह कौन युवा संन्यासी था, जिसने विश्व पटल पर भारत और हिन्दू धर्म की कीर्ति पताका फहराई, तो सबके मुख से निःसंदेह स्वामी विवेकानन्द का नाम ही निकलेगा।

विवेकानन्द का बचपन का नाम नरेन्द्र था। उनका जन्म कोलकाता में १२ जनवरी, १८६३ को हुआ था। बचपन से ही वे बहुत शरारती, साहसी और प्रतिभावान थे। पूजा–पाठ और ध्यान में उनका मन बहुत लगता था। नरेन्द्र के पिता उन्हें अपनी तरह प्रसिद्ध वकील बनाना चाहते थे; पर वे धर्म सम्बन्धी अपनी जिज्ञासाओं के लिए इधर–उधर भटकते रहते थे। किसी ने उन्हें दक्षिणेश्वर के पुजारी श्री रामकृष्ण परमहंस के बारे में बताया कि उन पर माँ भगवती की विशेष कृपा है। यह सुनकर नरेन्द्र उनके पास जा पहुँचे।

वहाँ पहुँचते ही उन्हें लगा, जैसे उनके मन–मस्तिष्क में विद्युत का सञ्चार हो गया हो। यही स्थिति रामकृष्ण जी की भी थी; उनके आग्रह पर नरेन्द्र ने कुछ भजन सुनाये। भजन सुनते ही परमहंस जी को समाधि लग गयी। वे रोते हुए बोले, नरेन्द्र मैं कितने दिनों से तुम्हारी प्रतीक्षा में था। तुमने आने में इतनी देर क्यों लगायी ? धीरे–धीरे दोनों में प्रेम बढ़ता गया। वहाँ नरेन्द्र की सभी जिज्ञासाओं का समाधान हुआ। उन्होंने परमहंस जी से पूछा – क्या आपने भगवान को देखा है ? उन्होंने उत्तर दिया – हाँ, केवल देखा ही नहीं उससे बात भी की है। तुम चाहो तो तुम्हारी बात भी करा सकता हूँ। यह कहकर उन्होंने नरेन्द्र को स्पर्श किया। इतने से ही नरेन्द्र को भाव समाधि लग गयी। अपनी सुध–बुध

खोकर वे मानो दूसरे लोक में पहुँच गये।

अब नरेन्द्र का अधिकांश समय दक्षिणेश्वर में बीतने लगा। आगे चलकर उन्होंने संन्यास ले लिया और उनका नाम विवेकानन्द हो गया। जब रामकृष्ण जी को लगा कि उनका अन्त समय पास आ गया है, तो उन्होंने विवेकानन्द को स्पर्श कर अपनी सारी आध्यात्मिक शक्तियाँ उन्हें दे दीं। अब विवेकानन्द ने देश–भ्रमण प्रारम्भ किया और वेदान्त के बारे में लोगों को जाग्रत करने लगे।

उन्होंने देखा कि ईसाई पादरी निर्धन ग्रामीणों के मन में हिन्दू धर्म के बारे में तरह–तरह की भ्रान्तियाँ फैलाते हैं। उन्होंने अनेक स्थानों पर इन धूर्त मिशनरियों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी; पर कोई सामने नहीं आया। इन्हीं दिनों उन्हें शिकागो में होने जा रहे विश्व धर्म सम्मेलन का पता लगा। उनके कुछ शुभचिन्तकों ने धन का प्रबन्ध कर दिया। स्वामी जी भी ईसाइयों के गढ़ में ही उन्हें ललकारना चाहते थे। अत: वे शिकागो जा पहुँचे।

शिकागो का सम्मेलन वस्तुत: दुनिया में ईसाइयत की जयकार गुँजाने का षड्यन्त्र मात्र था। इसलिए विवेकानन्द को बोलने के लिए सबसे अन्त में कुछ मिनट का ही समय मिला; पर उन्होंने अपने पहले ही वाक्य 'अमरीकावासियो भाइयो और बहिनो' कहकर सबका दिल जीत लिया। तालियों की गड़गड़ाहट से सभागार गूँज उठा। यह ११ सितम्बर १८९३ का दिन था। उनका भाषण सुनकर लोगों के भ्रम दूर हुए। इसके बाद वे अनेक देशों के प्रवास पर गये। इस प्रकार उन्होंने सर्वत्र हिन्दू धर्म की विजय पताका लहरा दी।

भारत लौटकर उन्होंने श्री रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जो आज भी विश्व भर में वेदान्त के प्रचार में लगा है। जब उन्हें लगा कि उनके जीवन का लक्ष्य पूरा हो गया है, तो उन्होंने ४ जुलाई १९०२ को महासमाधि लेकर स्वयं को परमात्म में लीन कर लिया।

❖

१२ जनवरी

जन्म-तिथि

आधुनिक विज्ञान और परम्परा के महर्षि : महेश योगी

सम्पूर्ण विश्व में वेद विज्ञान तथा भावातीत ध्यान के माध्यम से भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान को पुनर्स्थापित करने वाले महर्षि महेश योगी का जन्म १२ जनवरी, १९१८ को जबलपुर (मध्य प्रदेश) में हुआ था। यह स्वामी विवेकानन्द का भी जन्म दिन है; और इन दोनों ही संन्यासियों ने विश्व भर में हिन्दू धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की पताका को फहराने का पुण्य कार्य किया।

महर्षि का प्रारम्भिक नाम महेश प्रसाद वर्मा था। उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से गणित और भौतिकी की पढ़ाई की थी। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रन्थों का भी गहन अध्ययन किया। अध्यात्म की ओर उनकी रुचि बचपन से ही थी। संन्यास लेने के बाद वे इस पथ पर और तीव्रता से बढ़ते गये। हिमालय और ऋषिकेश में उन्होंने लम्बी साधना की। ज्योर्तिमठ के शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द के बाद उन्हें ही इस पीठ पर प्रतिष्ठित किया जाने वाला था; पर किसी कारण से यह हो नहीं पाया। कुछ लोगों का मत है कि उनके जन्म से ब्राह्मण न होने के कारण ऐसा हुआ।

पर इससे महेश योगी की साधना में कोई अन्तर नहीं आया। उन्होंने भारत के साथ ही विदेशों में अपना ध्यान केन्द्रित किया और नीदरलैण्ड में अपना केन्द्र बनाया। यहाँ उन्होंने ध्यान, प्राणायाम और साधना के अपने अनुभवों को 'भावातीत ध्यान' के रूप में प्रसारित किया। इससे मानव बहुत

आसानी से अपनी आन्तरिक चेतना की उच्चतम अवस्था में पहुँच जाता है। यह भौतिकता, भागदौड़ और उन्मुक्त यौनाचार की चकाचौंध में डूबे खण्डित परिवार वाले पश्चिमी जगत के लिए नयी चीज थी। इसलिए उनके पास आने वालों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ने लगी।

महर्षि महेश योगी के साथ भावातीत ध्यान करने वाले अनुभव करते थे कि वे हल्के होकर धरती से कुछ ऊपर उठ गये हैं। उनका मत था कि ध्यान का उपयोग केवल अध्यात्म में ही नहीं, तो दैनिक जीवन में भी है। इससे मानव की आन्तरिक शक्तियाँ जाग्रत होती है, जिससे वह हर कार्य को अधिक सक्रियता से करता है। इससे जहाँ एक ओर उसका जीवन उत्कृष्ट बनता है वहाँ उसे अपने निजी कार्य में भी आशातीत सफलता मिलती है।

कुछ ही समय में ध्यान की यह विधि अत्यधिक लोकप्रिय हो गयी। १९६०–७० के दशक में विश्व प्रसिद्ध बैण्ड वादक बीटल्स, रोलिंग स्टोन्स, मिक जैगर और प्रसिद्ध लेखक दीपक चोपड़ा आदि ने महर्षि के सान्निध्य में इस विधि को सीखा। इससे महर्षि की ख्याति चहुँ ओर फैल गयी। उन्होंने विश्व में भारतीय संस्कृति, वेद और अध्यात्म पर आधारित रामराज्य की स्थापना का लक्ष्य लेकर काम किया। उनके अनुयायी भी राम ही कहलाते हैं। उन्होंने 'राम मुद्रा' का भी प्रचलन किया। महर्षि ने भारत और शेष दुनिया में हजारों विद्यालय और विश्वविद्यालयों की स्थापना की, जहाँ सामान्य शिक्षा के साथ योग एवं ध्यान की शिक्षा भी दी जाती है।

महर्षि महेश योगी एक सच्चे वेदान्ती थे। वे अतीत को स्वयं पर हावी होने देने की बजाय वर्तमान और भविष्य पर अधिक ध्यान देने को कहते थे। वे लोगों से सदा हँसते हुए मिलते थे। इसलिए उन्हें 'हँसता हुआ गुरू' भी कहा जाता था। ६ फरवरी, २००८ को नीदरलैण्ड में ही उनका देहान्त हुआ। उनके पार्थिव शरीर को प्रयाग लाकर उनके अरैल स्थित उसी आश्रम में अन्त्येष्टि की गयी, जहाँ से उन्होंने अपनी अध्यात्म–यात्रा प्रारम्भ की थी।

❖

१४ जनवरी

जन्म-तिथि

साहित्य शिरोमणि : विद्यानिवास मिश्र

भारतीय साहित्य और संस्कृति की सुगन्ध भारत ही नहीं, तो विश्व पटल पर फैलाने वाले डा० विद्यानिवास मिश्र का जन्म १४ जनवरी १९२६ को गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) के ग्राम पकड़डीहा में हुआ था। इनके पिता पण्डित प्रसिद्ध नारायण मिश्र की विद्वत्ता की दूर-दूर तक धाक थी। इनकी माता गौरादेवी की भी लोक संस्कृति में अगाध आस्था थी। इस कारण बालपन से ही विद्यानिवास के मन में भारत, भारतीयता और हिन्दुत्व के प्रति प्रेम जाग्रत हो गया।

इनकी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा गोरखपुर में ही हुई। इसके बाद ये उच्च शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र प्रयाग और फिर काशी आ गये। प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी के विभागाध्यक्ष वेदमूर्ति क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय इनके प्रेरक एवं गुरू थे। इन्होंने अपने शोधकार्य के लिए पाणिनी की अष्टाध्यायी को चुना। यह एक जटिल विषय था; पर विद्यानिवास जी ने इस पर कठोर परिश्रम किया। इसके लिए इन्हें बड़े-बड़े विद्वानों से प्रशंसा और शुभकामनाएँ मिलीं।

१९४२ में इनका विवाह राधिका देवी से हुआ। इसके बाद उन्होंने अध्यापन को अपनी आजीविका का आधार बनाया। इसका प्रारम्भ गोरखपुर से ही हुआ, जो आगे चलकर विश्वप्रसिद्ध कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय तक पहुँचा। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। उन्होंने स्वयं को केवल अध्यापन तक ही सीमित नहीं रखा। दस साल तक वे आकाशवाणी मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के सूचना विभाग में भी कार्यरत रहे। प्रसार भारती के सदस्य के नाते भी उनका योगदान उल्लेखनीय रहा।

लेखन के क्षेत्र में उन्होंने प्राय: सभी विधाओं में काम किया है। उनका मानना था कि साहित्य और संस्कृति में कोई भेद नहीं है। अपने अनुभव में तपकर जब साहित्य का सृजन होगा, तभी उसमें सच्चे जीवन मूल्यों की सुगन्ध आयेगी; पर लेखन में उनका प्रिय विषय ललित निबन्ध था। उनकी मान्यता थी कि हृदय में उतरे बिना ललित निबन्ध नहीं लिखा जा सकता। उनके निबन्ध इस कसौटी पर खरे उतरते हैं और इसीलिए वे पाठक के अर्न्तमन को छू जाते हैं। वे काशी विद्यापीठ, हिन्दी विद्यापीठ (देवधर) और सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे।

डा० विद्यानिवास मिश्र की प्रमुख कृतियों में तुम चन्दन हम पानी, गाँव का मन, आँगन का पञ्छी, भ्रमरानन्द के पत्र, कँटीले तारों के आर–पार, बञ्जारा मन, अग्निरथ, मैंने सिल पहुँचाई..आदि हैं। वे २००३ ई० में राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए। यों तो वे विदेश में लम्बे समय तक अध्यापक रहे; पर रामायण सम्मेलन तथा विश्व हिन्दी सम्मेलनों के माध्यम से भी उन्होंने अनेक देशों में हिंदी और हिन्दुत्व का प्रचार–प्रसार किया।

विद्यानिवास जी एक कुशल सम्पादक थे। वे कुछ समय दैनिक नवभारत टाइम्स के सम्पादक रहे। दिल्ली से प्रकाशित मासिक पत्रिका साहित्य अमृत के वे संस्थापक सम्पादक थे। १९८७ में उन्हें पद्मश्री तथा १९९९ में पद्मभूषण की उपाधि से अलंकृत किया गया। इसके अतिरिक्त साहित्य अकादमी सम्मान, व्यास सम्मान, शंकर सम्मान, भारत भारती और सरस्वती सम्मान भी प्राप्त हुए। महाभारत के काव्यार्थ ग्रन्थ के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ने उन्हें मूर्तिदेवी पुरस्कार से विभूषित किया।

साहित्य शिरोमणि डा० विद्यानिवास मिश्र का १४ फरवरी २००५ को एक कार दुर्घटना में देहान्त हुआ।

❖

१५ जनवरी

जन्म-तिथि

स्वतन्त्रता सेनानी पत्रकार वीरेन्द्र वीर

दिल्ली, पंजाब तथा हरियाणा की पत्रकारिता में महाशय कृष्ण एवं उनके समाचार पत्र 'दैनिक प्रताप' का विशेष योगदान है। इन्हीं महाशय जी के घर में १५ जनवरी १९११ को वीरेन्द्र वीर का जन्म हुआ। आर्य समाज से प्रभावित परिवार होने के कारण उन्हें देश एवं धर्म के प्रति भक्ति के संस्कार मिले। इसी से प्रेरित होकर वे छोटी अवस्था से ही स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने लगे। उन दिनों लाहौर क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र था। उस ओर भी वीरेन्द्र जी का रुझान था। इस कारण पुलिस की सूची में उनका नाम भी लिख लिया गया।

१६ वर्ष की अवस्था में वीरेन्द्र वीर को 'साण्डर्स हत्याकाण्ड' के संदिग्ध अभियुक्त के रूप में पकड़ लिया गया; पर इसमें इनका कोई हाथ नहीं था। शासन को इस कारण इन्हें छोड़ना पड़ा। एक वर्ष बाद 'वायसराय बम काण्ड' में इन्हें फिर गिरफ्तार किया गया; पर इस बार भी शासन इनके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं जुटा सका। अत: ये सम्मान सहित बरी हो गये। फिर भी शासन इन पर सदा सन्देह की दृष्टि रखता था।

१९३० में पंजाब के गर्वनर पंजाब विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में भाग लेने के लिए लाहौर आये। वहाँ क्रान्तिकारी हरिकिशन ने गर्वनर पर बम फेंका। उस समय इन्हें भी अनेक युवा मित्रों सहित फिर गिरफ्तार किया गया, क्योंकि हरिकिशन को समारोह के लिए प्रवेश पत्र वीरेन्द्र जी ने ही दिया था; पर

इस बार भी अपराध सिद्ध न होने के कारण शासन को इन्हें छोड़ना पड़ा। यद्यपि इस काण्ड में हरिकिशन जी को फाँसी हुई।

१९३१–३२ में गान्धी जी द्वारा सञ्चालित 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' में सक्रिय रहने के कारण वीरेन्द्र वीर को जेल भेज दिया गया। जेल में रहते हुए ही उन्होंने एम.ए. अर्थशास्त्र की परीक्षा अच्छे अंकों में उत्तीर्ण की। जेल से आने पर इनके पिता महाशय कृष्ण जी ने इन्हें 'दैनिक प्रताप' का कार्यभार सौंप दिया। अब सम्पादक के रूप में इनका एक नया जीवन शुरू हुआ।

सम्पादक रहते हुए वीरेन्द्र जी प्राय: राष्ट्रीय विषयों पर अपनी कलम चलाया करते थे। अत: उनके समाचार पत्र में प्रकाशित सामग्री को आधार बनाकर 'भारतीय प्रेस अधिनियम' के अन्तर्गत इन्हें जेल भेजा गया। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भाग लेने के कारण इन्हें तीन साल तक शाहपुर तथा स्यालकोट की जेल में रखा गया। इस समय इनके पिता तथा दोनों भाई भी जेल में थे। १९४५ में सबको रिहा कर दिया गया। १९४७ में समाचार सामग्री के आधार पर इन्हें फिर जेल जाना पड़ा। इनके भाई कुँवर नरेन्द्र ने 'वीर अर्जुन' नामक दैनिक हिन्दी समाचार पत्र चलाया। उसे भी भारी लोकप्रियता मिली।

देश स्वाधीन होने पर वीरेन्द्र जी ने राजनीति में प्रवेश किया। वे एक बार पंजाब की विधान सभा और एक बार विधान परिषद के सदस्य रहे। १९५४ में उन्होंने हिन्दी में 'दैनिक वीर प्रताप' शुरू किया। आर्य समाज के माध्यम से वे धार्मिक गतिविधियों में भी सक्रिय रहते थे। शिक्षा प्रसार में भी उनकी भारी रुचि थी। वे डी.एम.कालिज, मोगा; डी.एम.शिक्षा महाविद्यालय, मोगा; दोआबा कालिज, जालन्धर तथा कन्या महाविद्यालय, जालन्धर के अनेक वर्ष तक प्रधान रहे। स्वतन्त्रता सेनानी, राजनेता, पत्रकार तथा शिक्षाप्रेमी वीरेन्द्र वीर जी का ३१ दिसम्बर, १९९३ को देहान्त हो गया।

❖

१६ जनवरी

पुण्य-तिथि

राष्ट्रीय चेतना के अमर गायक रामनरेश त्रिपाठी

उत्तर भारत के अधिकांश प्राथमिक विद्यालयों में एक प्रार्थना बोली जाती है – हे प्रभो आनन्ददाता, ज्ञान हमको दीजिये
शीघ्र सारे दुगुर्णों को दूर हमसे कीजिये।
लीजिये हमको शरण में हम सदाचारी बनें
ब्रह्मचारी धर्मरक्षक वीरव्रतधारी बनें।।

यह प्रार्थना एक समय इतनी लोकप्रिय थी कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के बाद जब शाखाएँ प्रारम्भ हुईं, तो उस समय जो प्रार्थना बोली जाती थी, उसमें भी इसके अंश लिये गये थे।

हे गुरो श्री रामदूता शील हमको दीजिये
शीघ्र सारे सद्गुणों से पूर्ण हिन्दू कीजिये।
लीजिये हमको शरण में रामपंथी हम बनें
ब्रह्मचारी धर्मरक्षक वीरव्रतधारी बनें।।

यह प्रार्थना संघ की शाखाओं पर १९४० तक चलती रही। १९४० में सिन्दी बैठक में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय हुए। उनके अनुसार इसके बदले संस्कृत की प्रार्थना नमस्ते सदा वत्सले... को स्थान मिला, जो आज भी बोली जाती है।

इस प्रार्थना के लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी का जन्म ४ मार्च, १८८९ को ग्राम कोइरीपुर (जौनपुर, उत्तर प्रदेश) में हुआ था। वे कुछ समय पट्टी (प्रतापगढ़) तथा फिर कक्षा नौ तक जौनपुर में पढ़े। इसके बाद वे हिन्दी के प्रचार–प्रसार तथा

समाज सेवा में लग गये। उन दिनों स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था, वे उसमें कूद पड़े और आगरा जेल में बन्दी बना लिये गये।

इस किसान आन्दोलन के समय सिगरामऊ के राजा हरपाल सिंह ने उन पर मानहानि का मुकदमा ठोक दिया। इससे उनका मन टूट गया और वे अपना गृह जनपद छोड़कर दियरा राज्य (जिला सुल्तानपुर, उत्तर प्रदेश) में चले आये। वहाँ के प्रबन्धक कुँवर कौशलेन्द्र प्रताप ने उनको रेलवे स्टेशन के पास जगह दिलवा दी। इस प्रकार १९३० ई० में उनका निवास 'आनन्द निकेतन' निर्मित हुआ। यहाँ उन्होंने भरपूर साहित्य साधना की तथा ग्राम्य लोकगीतों का संग्रह 'कविता कौमुदी' कई भागों में प्रकाशित कराया। उनकी रचनाओं में देशप्रेम की भावना कूट—कूट कर भरी थी। इससे जनजागरण में उनका भरपूर उपयोग हुआ। उनके द्वारा निकाला गया 'वानर' अपने समय का सर्वश्रेष्ठ बाल मासिक था।

मधुमेह से पीड़ित हो जाने से वे अधिक समय तक यहाँ नहीं रह पाये। साहित्यकारों की गुटबाजी ने भी उनको बहुत मानसिक कष्ट दिये। अतः १९५० में वे यह स्थान छोड़कर प्रयाग चले गये। इसके बाद का उनका समय वहीं बीता। प्रयाग उस समय हिन्दी साहित्यकारों का गढ़ था। श्री रामनरेश त्रिपाठी के सभी से प्रेम सम्बन्ध बन गये। 'हिन्दी समिति, प्रयाग' के वे संस्थापक थे।

जनवरी, १९६२ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्वर्ण जयन्ती मनायी गयी। घोर शीत, कोहरे एवं वर्षा के बीच काफी अस्वस्थ होते हुए भी वे उसमें गये। इससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और १६ जनवरी, १९६२ को पड़े दिल के दौरे से उनका प्राणान्त हो गया। उनकी शव यात्रा में प्रयाग के सभी बड़े साहित्यकार सम्मिलित हुए। श्री रामनरेश त्रिपाठी भले ही अब न हों; पर कविता विनोद, बाल भारती, चयनिका, हनुमान चरित, मिलन, पथिक, स्वप्न आदि काव्य रचनाओं द्वारा वे हिन्दी साहित्याकाश में सदा चमकते रहेंगे।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्रीपति मिश्र ने अपने काल में सुल्तानपुर में त्रिपाठी जी के नाम पर एक भव्य सभागार का निर्माण कराया।

❖

१७ जनवरी बलिदान दिवस

रामसिंह कूका और उनके गोभक्त शिष्य

१७ जनवरी, १८७२ की प्रात: ग्राम जमालपुर (मालेरकोटला, पंजाब) के मैदान में भारी भीड़ एकत्र थी। एक–एक कर ५० गोभक्त सिख वीर वहाँ लाये गये। उनके हाथ पीछे बँधे थे। इन्हें मृत्युदण्ड दिया जाना था। ये सब सदगुरु रामसिंह कूका के शिष्य थे।

अंग्रेज जिलाधीश कोवन ने इनके मुह पर काला कपड़ा बाँधकर पीठ पर गोली मारने का आदेश दिया; पर इन वीरों ने साफ कह दिया कि वे न तो कपड़ा बँधवाएंगे और न ही पीठ पर गोली खायेंगे। तब मैदान में एक बड़ी तोप लायी गयी। अनेक समूहों में इन वीरों को तोप के सामने खड़ा कर गोला दाग दिया जाता। गोले के दगते ही गरम मानव खून के छींटे और मांस के लोथड़े हवा में उड़ते। जनता में अंग्रेज शासन की दहशत बैठ रही थी। कोवन का उद्देश्य पूरा हो रहा था। उसकी पत्नी भी इस दृश्य का आनन्द उठा रही थी।

इस प्रकार ४९ वीरों ने मृत्यु का वरण किया; पर ५० वें को देखकर जनता चीख पड़ी। वह तो केवल १२ वर्ष का एक छोटा बालक बिशनसिंह था। अभी तो उसके चेहरे पर मूँछें भी नहीं आयी थीं। उसे देखकर कोवन की पत्नी का दिल भी पसीज गया। उसने अपने पति से उसे माफ कर देने को कहा। कोवन ने बिशनसिंह के सामने रामसिंह को गाली देते हुए कहा कि यदि तुम उस धूर्त का साथ छोड़ दो, तो तुम्हें माफ किया जा सकता है।

यह सुनकर बिशनसिंह क्रोध से जल उठा। उसने उछलकर कोवन की दाढ़ी को दोनों हाथों से पकड़ लिया और उसे बुरी तरह खींचने लगा। कोवन ने

बहुत प्रयत्न किया; पर वह उस तेजस्वी बालक की पकड़ से अपनी दाढ़ी नहीं छुड़ा सका। इसके बाद बालक ने उसे धरती पर गिरा दिया और उसका गला दबाने लगा। यह देखकर सैनिक दौड़े और उन्होंने तलवार से उसके दोनों हाथ काट दिये। इसके बाद उसे वहीं गोली मार दी गयी।

इस प्रकार ५० कूका वीरों ने उस दिन शहादत पायी। इनके गुरु रामसिंह कूका का जन्म १८१६ ई० की वसन्त पञ्चमी को लुधियाना के भैणी ग्राम में जस्सासिंह बढ़ई के घर में हुआ था। रामसिंह शुरू से धार्मिक प्रवृत्ति के थे। कुछ वर्ष वे महाराजा रणजीत सिंह की सेना में रहे। फिर अपने गाँव में खेती करने लगे। वे सबसे अंग्रेजों का विरोध करने तथा समाज की कुरीतियों को मिटाने को कहते थे। उन्होंने सामूहिक, अन्तरजातीय और विधवा विवाह की प्रथा चलाई। उनके शिष्य ही 'कूका' कहलाते थे। कूका आन्दोलन का प्रारम्भ १३ अप्रैल, १८५७, बैसाखी पर्व पर भैणी साहब में हुआ। वे गोसंरक्षण तथा स्वदेशी के उपयोग पर बहुत बल देते थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम अंग्रेजी शासन का बहिष्कार कर अपनी स्वतन्त्र डाक और प्रशासन व्यवस्था चलायी थी।

मकर संक्रान्ति मेले में मलेरकोटला से भैणी आ रहे गुरुमुख सिंह नामक एक कूका के सामने मुसलमानों ने जानबूझ कर गोहत्या की। यह सुनकर कूका वीर बदला लेने को चल पड़े; पर उनकी शक्ति बहुत कम थी। दूसरी ओर से अंग्रेज पुलिस एवं फौज भी आ गयी। अनेक कूका मारे गये और ६८ पकड़े गये। इनमें से ५० को १७ जनवरी को तथा शेष को अगले दिन मृत्युदण्ड दिया गया।

अंग्रेज जानते थे कि इन सबके पीछे गुरु रामसिंह कूका की प्रेरणा है। अत: उन्हें भी गिरफ्तार कर बर्मा की जेल में भेज दिया। १४ साल तक वहाँ काल कोठरी में कठोर अत्याचार सहकर १८८५ में सद्गुरु रामसिंह कूका ने अपना शरीर त्याग दिया।

❖

१८ जनवरी जन्म-तिथि

अनुशासन प्रिय : महादेव गोविन्द रानाडे

सामान्यत: नेता या बड़े लोग दूसरों को तो अनुशासन की शिक्षा देते हैं; पर वे स्वयं इसका पालन नहीं करते। वे सोचते हैं कि अनुशासन का पालन करना दूसरों का काम है और वे इससे ऊपर हैं; पर १८ जनवरी, १८४२ को महाराष्ट्र के एक गाँव निफड़ में जन्मे श्री महादेव गोविन्द रानाडे इसके अपवाद थे। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। इसके साथ ही समाज सुधार उनकी चिन्ता का मुख्य विषय था।

एक बार उन्हें पुणे के न्यू इंग्लिश स्कूल के वार्षिकोत्सव समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में शामिल होना था। आमन्त्रित अतिथियों को यथास्थान बैठाने के लिए द्वार पर कुछ कार्यकर्त्ता तैनात थे। उन्हें निर्देश था कि बिना निमन्त्रण पत्र के किसी को अन्दर न आने दें। श्री रानाडे का नाम तो निमन्त्रण पत्र पर छपा था; पर उनके पास उस समय वह निमन्त्रण पत्र नहीं था। द्वार पर तैनात वह कार्यकर्त्ता उन्हें पहचानता नहीं था। इसलिए उसने श्री रानाडे को नियमानुसार प्रवेश नहीं दिया। श्री रानाडे ने इस बात का बुरा नहीं माना, वे बोले – बेटे, मेरे पास तो निमन्त्रण पत्र नहीं है। इतना कहकर वे सहज भाव से द्वार के पास ही खड़े हो गये।

थोड़ी देर में कार्यक्रम के आयोजकों की दृष्टि उन पर पड़े। वे दौड़कर आये और उस कार्यकर्ता को डाँटने लगे। इस पर वह कार्यकर्त्ता आयोजकों से ही भिड़ गया। उसने कहा कि आप लोगों ने ही मुझे यह काम सौंपा है और आप ही नियम तोड़ रहे हैं, ऐसे में मैं अपना कर्त्तव्य कैसे पूरा करूँगा। कोई भी

अतिथि हो; पर नियमानुसार उस पर निमन्त्रण पत्र तो होना ही चाहिए।

आयोजक लोग उसे आवश्यकता से अधिक बोलता देख नाराज होने लगे; पर श्री रानाडे ने उन्हें शान्त कराया और उसकी अनुशासनप्रियता की सार्वजनिक रूप से अपने भाषण में प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि आज ऐसे ही अनुशासनप्रिय लोगों की आवश्यकता है। यदि सभी भारतवासी अनुशासन का पालन करें, तो हमें स्वतन्त्रता भी शीघ्र मिल सकती है और उसके बाद देश की प्रगति भी तेजी से होगी। इतना ही नहीं, कार्यक्रम समाप्ति के बाद उन्होंने उस कार्यकर्ता की पीठ थपथपा कर उसे शाबासी दी। वह कार्यकर्ता आगे चलकर भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय हुआ। उसका नाम था गोपाल कृष्ण गोखले।

श्री रानाडे में अनुशासन, देशप्रेम व चारित्र्य के ऐसे सुसंस्कार उनके परिवार से ही आये थे। उनका परिवार परम्परावादी था; पर श्री रानाडे खुले विचारों के होने के कारण प्रार्थना समाज के सम्पर्क में आये और फिर उसके सक्रिय कार्यकर्ता बन गये। इस नाते उन्होंने हिन्दू समाज और विशेषकर महाराष्ट्रीय परिवारों में व्याप्त कुरीतियों पर चोट की और समाज सुधार के प्रयास किये। उनका मत था कि स्वतन्त्र होने के बाद देश का सामाजिक रूप से सबल होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना आर्थिक रूप से। इसलिए वे समाज सुधार की प्रक्रिया में लगे रहे।

इस काम में उन्हें समाज के अनेक वर्गों का विरोध सहना पड़ा; पर वे विचलित नहीं हुए। उनका मानना था कि सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने की पहल जो भी करेगा, उसे घर–परिवार तथा समाज के स्थापित लोगों से संघर्ष मोल लेना ही होगा। इसलिए इस प्रकार की मानसिकता बनाकर ही वे इस काम में लगे। इसीलिए आज भी उन्हें याद किया जाता है।

❖

१८ जनवरी पुण्य-तिथि

आत्मजागरण के पुरोधा दादा लेखराज

इस जगत् में अपने लिए तो सब ही जीते हैं; पर अमर वही होते हैं, जो निजी जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं। १८७६ में सिन्ध प्रान्त (वर्त्तमान पाकिस्तान) के एक सम्भ्रात परिवार में जन्मे श्री लेखराज ऐसे ही एक महामानव थे, जिन्होंने आगे चलकर ब्रह्मकुमारी नामक एक महान् आध्यात्मिक आन्दोलन की स्थापना की। लेखराज जी का बचपन से ही अध्यात्म की ओर आकर्षण था। इसलिए लोग इन्हें दादा (बड़ा भाई) कहने लगे। बालपन में ही पिताजी का देहान्त हो जाने से इन्हें छोटी अवस्था में ही कारोबार करना पड़ा। इन्होंने हीरे–जवाहरात का व्यापार किया। मधुर स्वभाव और ईमानदारी के कारण इनका व्यापार कुछ ही समय में भारत के साथ ही विदेशों में भी फैल गया।

पर इसके साथ ही इनके मन में यह चिन्तन भी चलता रहता था कि व्यक्ति को कष्ट क्यों होते हैं तथा वह इन कष्टों और निर्धनता से कैसे मुक्त हो सकता है ? इसके लिए उन्होंने अपने जीवन में १२ गुरुओं का आश्रय लिया; पर इन्हें किसी से आत्मिक सन्तुष्टि नहीं मिली। ६० वर्ष की अवस्था में वाराणसी में अपने एक मित्र के घर पर इन्हें कुछ विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं, जिससे इनके जीवन में आमूल–चूल परिवर्तन हो गया।

दादा लेखराज ने देखा कि इस कलियुगी दुनिया का महाविनाश होने वाला

है और इसमें से ही एक नयी दुनिया का निर्माण होगा। उन्हें ऐसा लगा मानो उनके तन और मन में ईश्वरीय शक्ति का आगमन हुआ है। उस शक्ति ने दादा को उनके अतीत और आदिकाल के संस्मरण सुनाए। इस परमशक्ति ने उन्हें ही नयी दुनिया के निर्माण के लिए केन्द्र बिन्दु बनने को कहा तथा उनका नाम बदल कर प्रजापिता ब्रह्मा रख दिया। उस शक्ति ने इस काम में नारी शक्ति को आगे रखने का भी आदेश दिया।

अब दादा ने उस परमसत्ता का आदेश मानकर काम शुरू कर दिया। इसके लिए उन्होंने 'ओम मण्डली' का गठन किया। ईश्वरीय शक्ति ने उनकी सभी उलझनों को मिटा दिया था। नारियाँ स्वभाव से कोमल होती हैं। दादा ने उन्हें भौतिक विद्याओं से दूर हटाकर राजयोग की शिक्षा दी। इससे उनमें छिपी शक्तियाँ उजागर होने लगीं। दादा ने किसी धर्म या पन्थ का विरोध न करते हुए सबको अध्यात्म और सत्य का सरल ज्ञान कराया। इससे आसुरी शक्तियों का शमन होकर दैवी शक्तियों का जागरण हुआ।

दादा की मान्यता थी कि स्व परिवर्तन से ही विश्व में परिवर्तन होगा। जब यह काम प्रारम्भ हुआ, तो दादा को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस संस्था में महिलाएँ अधिक सक्रियता से जुड़ीं, अत: दादा पर अनेक लाञ्छन लगाये गये; पर वे इन सबकी चिन्ता न करते हुए अपने काम में लगे रहे। वस्तुत: उन्होंने हीरे जवाहरात के व्यापार के बदले मनुष्यों के अन्दर छिपे गुणों को सामने लाने का महत्वपूर्ण कार्य संभाल लिया था।

१९४७ में देश विभाजन के बाद दादा ने राजस्थान में आबू पर्वत को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। यहीं ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ। श्वेत वस्त्रधारी बाल ब्रह्मचारी बहिनों को आगे रखकर चलने वाली यह संस्था आज विश्व के १३० देशों मे काम कर रही है। १८ जनवरी, १९६९ को दादा लेखराज ने अपनी देहलीला समेट ली; पर उनके अनुयायी उनकी दैवी उपस्थिति सब जगह अनुभव करते हैं।

२० जनवरी बलिदान-दिवस

छत्तीसगढ़ के अमर बलिदानी : गेंदसिंह

छत्तीसगढ़ राज्य का एक प्रमुख क्षेत्र है बस्तर। अंग्रेजों ने अपनी कुटिल चालों से बस्तर को अपने शिकञ्जे में जकड़ लिया था। वे बस्तर के वनवासियों का नैतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण कर रहे थे। इससे वनवासी संस्कृति के समाप्त होने का खतरा बढ़ रहा था। अत: बस्तर के जंगल आक्रोश से गरमाने लगे।

उन दिनों परलकोट के जमींदार थे श्री गेंदसिंह। वे पराक्रमी, बुद्धिमान, चतुर और न्यायप्रिय व्यक्ति थे। उनकी इच्छा थी कि उनके क्षेत्र की प्रजा प्रसन्न रहे। उनका किसी प्रकार से शोषण न हो। इसके लिए वे हर सम्भव प्रयास करते थे; पर इस इच्छा में अंग्रेजों के पिट्ठू कुछ जमींदार, व्यापारी और राजकर्मचारी बाधक थे। वे सब उन्हें परेशान करने का प्रयास करते रहते थे।

जब अत्याचारों की पराकाष्ठा होने लगी, तो श्री गेंदसिंह ने २४ दिसम्बर, १८२४ को अबूझमाड़ में एक सभा का आयोजन किया। सभा के बाद गाँव–गाँव में धावड़ा वृक्ष की टहनी भेजकर विद्रोह के लिए तैयार रहने का सन्देश भेजा। वृक्ष की टहनी के पीछे यह भाव था कि इस टहनी के पत्ते सूखने से पहले ही सब लोग विद्रोह स्थल पर पहुँच जायें। ४ जनवरी, १८२५ को ग्राम, गुफाओं और पर्वत शृंखलाओं से निकल कर वनवासी वीर परलकोट में एकत्र हो गये। सब अपने पारम्परिक अस्त्रों से लैस थे।

वीर गेंदसिंह ने सबको अपने–अपने क्षेत्र में विद्रोह करने को प्रेरित किया और थोड़े ही समय में पूरा बस्तर सुलग उठा। सरल और शान्त प्रवृत्ति के वनवासी वीर मरने–मारने को तत्पर हो गये। इस विद्रोह का उद्देश्य बस्तर को

अंग्रेजी चंगुल से मुक्त कराना था। स्थान–स्थान पर खजाना लूटा जाने लगा। अंग्रेज अधिकारियों तथा राज कर्मचारियों को पकड़कर पीटा और मारा जाने लगा। सरकारी भवनों में आग लगा दी गयी। शोषण करने वाले व्यापारियों के गोदाम लूट लिये गये। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा मानो बस्तर से अंग्रेजी शासन समाप्त हो गया है।

इससे घबराकर अंग्रेज प्रशासक एग्न्यू ने अधिकारियों की एक बैठक में यह चुनौती रखी कि इस विद्रोह को कौन कुचल सकता है ? काफी देर तक बैठक में सन्नाटा पसरा रहा। गेंदसिंह और उनके वीर वनवासियों से भिड़ने का अर्थ मौत को बुलाना था। अत: सब अधिकारी सिर नीचे कर बैठ गये। एग्न्यू ने सबको कायरता के लिए फटकारा। अन्तत: चाँदा के पुलिस अधीक्षक कैप्टन पेबे ने इस विद्रोह को दबाने की जिम्मेवारी ली और एक बड़ी सेना लेकर परलकोट की ओर प्रस्थान कर दिया।

वनवासियों और ब्रिटिश सेना के बीच घमासान युद्ध हुआ। एक ओर आग उगलती अंग्रेज सैनिकों की बन्दूकें थीं, तो दूसरी ओर अपने धनुषों से तीरों की वर्षा करते वनवासी। बेचारे वनवासी इन आधुनिक शस्त्रों के सम्मुख कितनी देर टिक सकते थे ? फिर भी संघर्ष जारी रहा। २० जनवरी, १८२५ को इस विद्रोह के नेता और परलकोट के जमींदार गेंदसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया।

अब तो कैप्टन पेबे की खुशी का ठिकाना न रहा; पर वह इतना आतंकित था कि उसने उन्हें बड़े अधिकारियों के सामने प्रस्तुत करने या न्यायालय में ले जाने का जोखिम उठाना भी उचित नहीं समझा। उसने उसी दिन श्री गेंदसिंह को उनके महल के सामने ही फाँसी पर चढ़ा दिया। वीर गेंदसिंह का यह बलिदान छत्तीसगढ़ की ओर से स्वतन्त्रता के लिए होने वाला प्रथम बलिदान था।

❖

२१ जनवरी

पुण्य-तिथि

परवावज के साधक पुरुषोत्तम दास जी

भारतीय शास्त्रीय संगीत अपने प्रारम्भिक चरण में देवालयों में विकसित हुआ। सन्तों ने भजन, कीर्तन व संगीत के माध्यम से ही ईश्वर की आसधना की। राजस्थान का श्रीनाथद्वारा भी ऐसा ही एक मंदिर है, जहाँ पखावज वादन की एक समृद्ध परम्परा विकसित हुई। इस परम्परा में यों तो अनेक प्रसिद्ध साधक हुए हैं; जिनमें श्री पुरुषोत्तम दास जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

बीसवीं शती के इस महान कला साधक का जन्म श्रीनाथद्वारा में सात जुलाई १९०७ को हुआ था। उनके पिता पण्डित घनश्यामदास पखावजी स्वयं बड़े कलाकार थे। इस कारण पुरुषोत्तमदास जी को यह परम्परा विरासत में मिली। पाँच साल की अवस्था से ही वे अपने पिता की देखादेखी पखावज पर हाथ चलाने लगे; पर जब वे केवल नौ वर्ष के थे, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। ऐसे में गोस्वामी गोवर्धनलाल जी ने उनके भोजन, आवास आदि की व्यवस्था मन्दिर की ओर से कराई, जिससे वे साधना कर सकें। उन्होंने न केवल अपने पिता द्वारा प्राप्त ज्ञांन को साधा, अपितु अनेक नयी रचनाएँ भी बनायीं। इसमें उनके गुरु की भूमिका 'मद्दंग सागर' नामक ग्रन्थ ने निभाई। एकलव्य की तरह उन्होंने इसकी सहायता से पखावज वादन में महारत प्राप्त की।

पर यह सब इतना सरल नहीं था। दिन में वे केशव भवन की धर्मशाला में चौकीदारी करते और रात को दस बजे के बाद नायक गोविन्दराम और अन्य

कुछ मित्रों के साथ बस्ती के पास स्थित दयाराम समाधानी की बाड़ी में जाकर साधना करते। गोविन्दराम गाते और पुरुषोत्तमदास पखावज बजाते। उनकी साधना देखकर १९३२ में उन्हें उनके पिता और गुरु की गद्दी सौंप दी गयी। इससे उनकी रोटी, कपड़ा, मकान की समस्या हल हो गयी।

१९५३ में पुरुषोत्तम दास जी ने आकाशवाणी से कार्यक्रम देना प्रारम्भ किया। इससे इनकी कला की जानकारी पूरे देश को हुई। अब उन्हें राजस्थान के अलावा देश भर से संगीत समारोहों के निमन्त्रण मिलने लगे; पर वे कार्यक्रम के बाद फिर श्रीनाथद्वारा लौट आते। वस्तुत: उनका मन श्रीनाथ जी चरणों में ही लगता था। इस दौरान उनकी घनिष्ठता देश के अनेक बड़े कलाकारों से हुई। डागर बन्धुओं ने उनसे कई बार आग्रह किया कि वे दिल्ली में रहें। इससे उनकी कला का लाभ पूरे विश्व को मिलेगा।

१९५६ में पुरुषोत्तम दास जी दिल्ली आ गये। यहाँ सर्वप्रथम वे 'भारतीय कला केन्द्र' से जुड़े। इसके बाद १९६४ में 'केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी' द्वारा सञ्चालित 'कथक केन्द्र' में उन्हें वरिष्ठ गुरु का स्थान दिया गया। इस दौरान उन्होंने नेपाल, पाकिस्तान, जापान, रूस, श्रीलंका आदि अनेक देशों की संगीत यात्रा की। दिल्ली में उन्होंने देशी–विदेशी अनेक साधकों को पखावज की शिक्षा भी दी। उन्होंने 'मदृंग वादन' नामक एक पुस्तक भी लिखी, जिसे केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी के सहयोग से प्रकाशित किया गया।

पद्मश्री सहित अनेक सम्मानों से अलंकृत पुरुषोत्तम दास जी ने १९८२ में कथक केन्द्र से अवकाश लेकर सीधे श्रीनाथद्वारा की राह पकड़ी। यहाँ आकर उन्होंने श्रीनाथ संगीत शिक्षण केन्द्र मन्दिर में प्राचार्य का पद ग्रहण किया। इस पर कार्य करते हुए ही २१ जनवरी, १९९१ को पखावज का यह साधक सदा के लिए श्रीनाथ जी के चरणों में लीन हो गया।

२२ जनवरी

पुण्य-तिथि

जय-जय श्री रघुवीर समर्थ

हिन्दू पद पादशाही के संस्थापक छत्रपति शिवाजी के गुरु, समर्थ स्वामी रामदास का नाम भारत के साधु–सन्तों व विद्वत समाज में सुविख्यात है। महाराष्ट्र तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत में तो प्रत्यक्ष हनुमान् जी के अवतार के रूप में उनकी पूजा की जाती है। उनके जन्मस्थान जाम्बगाँव में तो उनकी मूर्ति मन्दिर में स्थापित की गयी है। यद्यपि मूर्ति स्थापना के समय अनेक विद्वानों ने कहा कि मनुष्यों की मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा देवताओं के समान नहीं की जा सकती; पर हनुमान् जी के अवतार वाली जन मान्यता के सम्मुख उन्हें झुकना पड़ा।

स्वामी रामदास का जन्म चैत्र शुक्ल ९, विक्रम संम्वत १६६५ (१६०८ ई०) को दोपहर में हुआ था। यही समय श्रीराम के जन्म का भी है। सूर्याजी पन्त तथा राणूबाई के घर में जन्मे इस बालक का नाम नारायण रखा गया। नारायण बचपन में बहुत शरारती थे। सात वर्ष की अवस्था में उन्होंने हनुमान् जी को अपना गुरु मान लिया। इसके बाद तो उनका अधिकांश समय हनुमान् मन्दिर में पूजा में बीतने लगा। एक बार उन्होंने निश्चय किया कि जब तक मुझे हनुमान् जी दर्शन नहीं देंगे, तब तक मैं अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा। यह संकल्प देखकर हनुमान् जी प्रकट हुए और उन्हें श्रीराम के दर्शन भी कराये। रामचन्द्र जी ने उनका नाम नारायण से बदलकर रामदास कर दिया।

जब घर वाले उनका विवाह करने लगे, तो वे मण्डप से भागकर गोदावरी के पास टाकली गाँव में एक गुफा में रहकर तप करने लगे। भिक्षा से जो सामग्री मिलती, उसी से वे अपना जीवनयापन करते थे। बारह साल तक कठोर तप

करने के बाद वे तीर्थयात्रा पर निकल पड़े। यात्रा में उन्होंने हिन्दुओं की दुर्दशा तथा उन पर हो रहे मुसलमानों के भीषण अत्याचार देखे। वे समझ गये कि हिन्दुओं के संगठन के बिना भारत का उद्धार नहीं हो सकता।

इस प्रवास में उन्होंने देश भर में ७०० मठ बनाये। इनमें श्रीराम और हनुमान् जी की पूजा के साथ ही युवक कुश्ती तथा शस्त्र सञ्चालन का अभ्यास करते थे। इस प्रकार उन्होंने युवकों की एक अच्छी टोली खड़ी कर दी। चाफल केन्द्र से वे इनका सञ्चालन करते थे। 'जय–जय श्री रघुवीर समर्थ' उनका उद्घोष था। इसी से लोग उन्हें 'समर्थ स्वामी' कहने लगे। जब शिवाजी ने आदर्श हिन्दू राज्य स्थापित करने के प्रयास प्रारम्भ किये, तो उन्होंने समर्थ स्वामी को अपना गुरु और मार्गदर्शक बनाया।

समर्थ स्वामी की जीवन यात्रा के अनुभव मुख्यत: 'दासबोध' नामक ग्रन्थ में संकलित हैं। ऐसी मान्यता है यह उन्होंने शिवाजी के मार्गदर्शन के लिए लिखा था। उनके शिष्य उनके प्रवचनों को लिखते रहते थे। यह सब अन्य अनेकों ग्रन्थों में संकलित हैं। १६८० में शिवाज़ी के देहान्त के बाद उनके पुत्र शम्भाजी का अनुचित व्यवहार देखकर स्वामी जी को बहुत दुख हुआ। उन्होंने पत्र लिखकर उसे समझाया; पर उसने ध्यान नहीं दिया।

स्वामी जी को लगा कि जिस काम के लिए प्रभु ने उन्हें शरीर दिया था, वह उसे यथाशक्ति पूरा कर चुके हैं। अत: उन्होंने स्वयं को समेटना शुरू किया। जब अश्रुपूरित शिष्यों ने उनसे पूछा कि आपके बाद हमें मार्गदर्शन कौन देगा, तो उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दासबोध' की ओर संकेत किया। माघ कृष्ण ९, विक्रम सम्वत् १७३९ (२२ जनवरी, १६८२ ई०) को राम–नाम लेते हुए समर्थ स्वामी रामदास ने अपना शरीर त्याग दिया।

❖

२२ जनवरी जन्म-दिवस

क्रान्तिकारी नृत्यांगना : अजीजन बाई

यों तो नृत्यांगना के पेशे को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता; पर अजीजन बाई ने सिद्ध कर दिया कि यदि दिल में आग हो, तो किसी भी माध्यम से देश–सेवा की जा सकती है।

अजीजन का जन्म २२ जनवरी, १८२४ को मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र में राजगढ़ नगर में हुआ था। उसके पिता शमशेर सिंह बड़े जागीरदार थे। उसका नाम अञ्जुला रखा गया। एक बार सखियों के साथ हरादेवी मेले में घूमते समय अंग्रेज सिपाहियों ने उसका अपहरण कर लिया। इस दुख में शमशेर सिंह का प्राणान्त हो गया। अंग्रेजों ने उनकी जागीर भी कब्जे में कर ली। कुछ समय तक सिपाही उसके यौवन से खेलते रहे, फिर उसे कानपुर के लाठी मुहाल चकले में ५०० रु० में बेच दिया।

चकले की मालकिन ने उसका नाम अजीजन बाई रखा। इस प्रकार एक हिन्दू युवती मुसलमान बनाकर कोठे पर बैठा दी गयी। मजबूर अजीजन ने समय के साथ समझौता कर पूरे मनोयोग से गीत–संगीत सीखा। इससे उसकी प्रसिद्धि चहुँ ओर फैल गयी। उन दिनों सब ओर १८५७ की क्रान्ति की तैयारी हो रही थी। १० मई, १८५७ को मेरठ की घटना का समाचार पाकर अजीजन ने ४०० वेश्याओं की 'मस्तानी टोली' बनाकर उसे अस्त्र–शस्त्र चलाना सिखाकर युद्ध में घायल क्रान्तिकारियों की सेवा में लगा दिया। यह जानकारी नानासाहब, तात्या टोपे आदि तक पहुँची, तो उनके सिर श्रद्धा से नत हो गये।

कहते हैं कि अज़ीजन बाई तात्या टोपे के प्रति आकर्षित थी; पर जब

उसने तात्या का देशप्रेम देखा, तो उसके जीवन की दिशा बदल गयी और वह भी युद्ध के मैदान में उतर गयी। दिन में वह शस्त्र चलाना सीखती और रात में अंग्रेज छावनियों में जाकर उनका दिल बहलाती; पर इसी दौरान वह कई ऐसे रहस्य भी ले आती थी, जो क्रान्तिकारियों के लिए सहायक होते थे।

अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये जा रहे अत्याचारों को देखकर उसका खून खौल उठता था। १५ जुलाई को कानपुर के बीबीघर में अंग्रेज स्त्री एवं बच्चों को मारकर एक कुएँ में भर दिया गया। अजीजन ने भी इसमें प्रमुख भूमिका निभायी। एक बार महाराजपुर के युद्ध में वह तात्या टोपे के साथ थी और उसने उनकी जान भी बचाई। जब १८५७ के युद्ध में पराजित होकर सब प्रमुख सेनानी भूमिगत हो गये, तो अजीजन भी जंगल में जा छिपी।

भूमिगत अवस्था में एक बार अजीजन पुरुष वेश में कुएँ के पास छिपी थी, तभी छह अंग्रेज सैनिक उधर आये। अजीजन ने अपनी पिस्तौल से चार को धराशाई कर दिया। शेष दो छिपकर अजीजन के पीछे आ गये और उसे पकड़ लिया। इस संघर्ष में अजीजन के हाथ से पिस्तौल गिर गयी और उसके बाल खुल गये। एक सैनिक ने उसे पहचान लिया। वह उसे मारना चाहता था; पर दूसरे ने उसे कमाण्डर के सामने प्रस्तुत करने का निर्णय लिया।

जाने से पहले जब वे कुएँ से पानी पी रहे थे, तो अजीजन ने गिरने का अभिनय किया। वह उधर गिरी, जिधर उसकी पिस्तौल पड़ी थी। पिस्तौल उठाकर शेष दो गोलियों से उसने उन दोनों का भी काम तमाम कर दिया। तब तक गोली की आवाज सुनकर कुछ और सैनिक आ गये और उन्होंने अजीजन को पकड़ लिया। उसे कर्नल हैवलाक के सामने प्रस्तुत किया गया, जिसने तोप के मुँह पर बाँधकर उस क्रान्तिकारी नृत्यांगना को उड़ा दिया।

❖

२३ जनवरी जन्म-तिथि

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में जिनकी एक पुकार पर हजारों महिलाओं ने अपने कीमती गहने अर्पित कर दिये, जिनके आह्वान पर हजारों युवक और युवतियाँ आजाद हिन्द फौज में भर्ती हो गये, उन सुभाषचन्द्र बोस का जन्म उड़ीसा की राजधानी कटक के एक मध्यमवर्गीय परिवार में २३ जनवरी, १८९७ को हुआ था।

सुभाष के पिता रायबहादुर जानकीनाथ चाहते थे कि वह अंग्रेजी आचार–विचार और शिक्षा को अपनाएँ। विदेश में जाकर पढ़ें तथा आई.सी.एस बनकर अपने कुल का नाम रोशन करें; पर सुभाष की माता श्रीमती प्रभावती हिन्दुत्व और देश से प्रेम करने वाली महिला थीं। वे उसे १८५७ के संग्राम तथा विवेकानन्द जैसे महापुरुषों की कहानियाँ सुनाती थीं। इससे सुभाष के मन में भी देश के लिए कुछ करने की भावना प्रबल हो उठी।

सुभाष ने कटक और कोलकाता से विभिन्न परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। फिर पिताजी के आग्रह पर वे आई.सी.एस की पढ़ाई करने के लिए इंग्लैंड चले गये। अपनी योग्यता और परिश्रम से उन्होंने लिखित परीक्षा में पूरे विश्वविद्यालय में चतुर्थ स्थान प्राप्त किया; पर उनके मन में ब्रिटिश शासन की सेवा करने की इच्छा नहीं थी। वे अध्यापक या पत्रकार बनना चाहते थे। बंगाल के स्वतन्त्रता सेनानी देशबन्धु चितरञ्जन दास से उनका पत्र–व्यवहार होता रहता था। उनके आग्रह पर वे भारत आकर कांग्रेस में शामिल हो गये।

कांग्रेस में उन दिनों गान्धी जी और नेहरू की तूती बोल रही थी। उनके

निर्देश पर सुभाष बाबू ने अनेक आन्दोलनों में भाग लिया और १२ बार जेल—यात्रा की। १९३८ में गुजरात के हरिपुरा नामक स्थान पर हुए राष्ट्रीय अधिवेशन में वे कांग्रेस के अध्यक्ष बनाये गये; पर इसके बाद उनके गान्धी जी से कुछ मतभेद उभर आये। गान्धी जी चाहते थे कि प्रेम और अहिंसा से आजादी का आन्दोलन चलाया जाये; पर सुभाष बाबू उग्र साधनों को अपनाना चाहते थे। कांग्रेस के अधिकांश लोग सुभाष बाबू का समर्थन करते थे। युवक वर्ग तो उनका दीवाना ही था।

सुभाष बाबू ने अगले साल मध्य प्रदेश के त्रिपुरी में हुए अधिवेशन में फिर से अध्यक्ष बनना चाहा; पर गान्धी जी ने पट्टाभि सीतारमैया को खड़ा कर दिया। सुभाष बाबू भारी बहुमत से चुनाव जीत गये। इससे गान्धी जी के दिल को बहुत चोट लगी। आगे चलकर सुभाष बाबू ने जो भी कार्यक्रम हाथ में लेना चाहा, गान्धी जी और नेहरू के गुट ने उसमें सहयोग नहीं दिया। इससे खिन्न होकर सुभाष बाबू ने अध्यक्ष पद के साथ ही कांग्रेस भी छोड़ दी।

अब उन्होंने 'फारवर्ड ब्लाक' की स्थापना की। कुछ ही समय में कांग्रेस की चमक इसके आगे फीकी पड़ गयी। इस पर अंग्रेज शासन ने सुभाष बाबू को पहले जेल में और फिर घर में नजरबन्द कर दिया; पर सुभाष बाबू वहाँ से निकल भागे। उन दिनों द्वितीय विश्व युद्ध के बादल मण्डरा रहे थे। सुभाष बाबू ने अंग्रेजों के विरोधी देशों के सहयोग से भारत की स्वतन्त्रता का प्रयास किया। उन्होंने आजाद हिन्द फौज के सेनापति पद से जय हिन्द, चलो दिल्ली तथा तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा का नारा दिया; पर दुर्भाग्य से उनका यह प्रयास सफल नहीं हो पाया।

सुभाष बाबू का अन्त कैसे, कब और कहाँ हुआ, यह रहस्य ही है। कहा जाता है कि १८ अगस्त, १९४५ को जापान में हुई एक विमान दुर्घटना में उनका देहान्त हो गया। यद्यपि अधिकांश तथ्य इसे झूठ सिद्ध करते हैं; पर उनकी मृत्यु के रहस्य से पूरा पर्दा उठना अभी बाकी है।

❖

२५ जनवरी जन्म-तिथि

कवि माइकेल मधुसूदन दत्त

भारतीय काव्य–क्षेत्र के तेजस्वी नक्षत्र माइकेल मधुसूदन दत्त का जन्म २५ जनवरी, १८२४ को ग्राम सागरदारी, जिला जैसोर, बंगाल में हुआ था। आजकल यह क्षेत्र बांग्लादेश में है। इन्हें १९ वीं सदी के रचनात्मक पुनर्जागरण का प्रणेता माना जाता है। इनके पिता श्री राजनारायण दत्त एक प्रसिद्ध वकील तथा माता जाह्नवी देवी एक प्रतिष्ठित जमींदार घराने से थीं।

बालपन से ही मधुसूदन तीव्र बुद्धि के थे। शिक्षा के प्रारम्भिक दौर में इन्होंने संस्कृत, बंगला एवं फारसी का अध्ययन किया। कविता के प्रति इनके मन में आकर्षण शुरू से ही था। १८३७ में इन्होंने कोलकाता के हिन्दू कॉलिज में प्रवेश लिया। वहाँ शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था; पर कुछ समय में इन्होंने उसका भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इससे इनकी प्रतिभा वहाँ भी प्रकट होने लगी। कोलकाता के खुले एवं शिक्षित वातावरण में इनकी काव्य कल्पनाएँ अनन्त आकाश में उड़ने को व्याकुल हो उठीं।

अब तक मधुसूदन के मन में सर्जना के अंकुर फूटने लगे थे। अंग्रेजी के प्रख्यात कवि शेक्सपियर, मिल्टन और बॉयरान के ये प्रशंसक थे। उनसे प्रभावित होकर ये अंग्रेजी में कविता लिखने लगे। विद्यालय में अध्यापकों तथा काव्य गोष्ठियों में प्रबुद्ध जनों की प्रशंसा से इनका उत्साह बढ़ता रहा। १८४८ में ये मद्रास गये और वहाँ एक विद्यालय में अध्यापन करने लगे। वहीं इन्होंने अपनी सबसे लम्बी कविता 'दि कैप्टिव लेडी' लिखी।

मधुसूदन दत्त काव्य की बनी–बनायी लीक पर चलने के पक्षधर नहीं थे।

उन्होंने भारतीय काव्य में पहली बार मुक्तछन्द का प्रयोग किया। इसके लिए उन्हें आलोचना और प्रशंसा दोनों ही मिलीं। मद्रास में ही इन्होंने गीतिकाव्य, त्रिपदी, चतुष्पदी एवं पञ्च चरण कविताओं जैसे अनेक प्रयोग किये। नये–नये प्रयोगों के कारण इन्हें कविता का क्रान्तिकारी कहा जाता है।

इन्होंने परिवर्णी काव्य, सम्बोधि गीत, पत्रकाव्य, मुक्तछन्द, चित्रात्मक काव्य आदि में ऐसी नयी शैली प्रस्तुत की, कि सब ओर इनके काव्य की चर्चा होने लगी। वे अपनी कविता में कल्पनाओं का ऐसा भव्य संसार खड़ा करते थे कि उसे पढ़कर लोग दंग रह जाते थे। १८५६ में वे कोलकाता वापस आ गये। यहाँ उन्होंने अनेक प्रसिद्ध अंग्रेजी कविताओं का भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया। अंग्रेजों जैसी जीवन शैली अपनाने के लिए इन्होंने ईसाई मत स्वीकार कर लिया था; पर इनकी रचनाओं में भारत और भारतीयता का रंग ही प्रमुख रहा।

कोलकाता में मधुसूदन दत्त ने बंगला भाषा में कविताएँ लिखनी प्रारम्भ कीं। १८६० में लिखित 'तिलोत्मा सम्भव' इनकी पहली बंगला कविता थी। १८६२ में वे कानून की पढ़ाई के लिए इंगलैण्ड गये; पर इससे पूर्व उन्होंने संस्कृत, बंगला, तमिल, तेलगू आदि भारतीय भाषाओं में प्रचुर काव्य साहित्य रचा। विदेश प्रवास में उन्होंने कानून के साथ–साथ फ्रेञ्च, जर्मन, हिब्रू आदि भाषाओं की काव्य कृतियों का भी अध्ययन किया।

कविता के साथ–साथ उन्होंने अनेक नाटक एवं काव्य नाटक भी लिखे। इनमें शर्मिष्ठा, पद्मावती, कृष्णा कुमारी, मेघनाद वध, व्रजांगना, वीरांगना, तीरांगना आदि प्रमुख हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में आम आदमी द्वारा बोली जाने वाली सरल भाषा का प्रयोग किया। इससे इनका साहित्य जन–जन का साहित्य बन गया। ३ जुलाई, १८७३ को दुनिया से विदा लेने से पूर्व वे भारतीय साहित्य के क्षेत्र में ऐसी समृद्ध परम्परा निर्माण कर गये, जो लम्बे समय तक लेखकों का मार्गदर्शन करती रही।

❖

२६ जनवरी जन्म-तिथि

स्वतन्त्रता सेनानी : रानी माँ गाइडिन्ल्यू

देश की स्वतन्त्रता के लिए जेल में भीषण यातनाएँ भोगने वाली गाइडिन्ल्यू का जन्म २६ जनवरी १९१५ को नागाओं की रांगमेयी जनजाति में हुआ था। केवल १३ वर्ष की अवस्था में ही वह अपने चचेरे भाई जादोनांग से प्रभावित हो गयी। जादोनांग प्रथम विश्व युद्ध में लड़ चुके थे। युद्ध के बाद अपने गाँव आकर उन्होंने तीन नागा कबीलों जेमी, ल्यांगमेयी और रांगमेयी में एकता स्थापित करने हेतु 'हराका' पन्थ की स्थापना की। आगे चलकर ये तीनों सामूहिक रूप से जेलियांगरांग कहलाये। इसके बाद वे अपने क्षेत्र से अंग्रेजों को भगाने के प्रयास में लग गये।

इससे अंग्रेज नाराज हो गये। उन्होंने जादोनांग को २९ अगस्त १९३१ को फाँसी दे दी; पर नागाओं ने गाइडिन्ल्यू के नेतृत्व में संघर्ष जारी रखा। अंग्रेजों ने आन्दोलनरत गाँवों पर सामूहिक जुर्माना लगाकर उनकी बन्दूकें रखवा लीं। १७ वर्षीय गाइडिन्ल्यू ने इसका विरोध किया। वे अपनी नागा संस्कृति को सुरक्षित रखना चाहती थीं। हराका का अर्थ भी शुद्ध एवं पवित्र है। उनके साहस एवं नेतृत्वक्षमता को देखकर लोग उन्हें देवी मानने लगे।

अब अंग्रेज गाइडिन्ल्यू के पीछे पड़ गये। उन्होंने उनके प्रभाव क्षेत्र के गाँवों में उनके चित्र वाले पोस्टर दीवारों पर चिपकाये तथा उन्हें पकड़वाने वाले को ५०० रु० पुरस्कार देने की घाषिणा की; पर कोई इस लालच में नहीं आया। अब गाइडिन्ल्यू का प्रभाव उत्तरी मणिपुर, खोनोमा तथा कोहिमा तक फैल गया। नागाओं के अन्य कबीले भी उन्हें अपना नेता मानने लगे।

१९३२ में गाइडिन्ल्यू ने पोलोमी गाँव में एक विशाल काष्ठदुर्ग का निर्माण शुरू किया, जिसमें ४०,००० योद्धा रह सकें। उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे अन्य जनजातीय नेताओं से भी सम्पर्क बढ़ाया। गाइडिन्ल्यू ने अपना खुफिया तन्त्र भी स्थापित कर लिया। इससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। यह देखकर अंग्रेजों ने डिप्टी कमिश्नर जे.पी.मिल्स को उन्हें पकड़ने की जिम्मेदारी दी। १७ अक्तूबर, १९३२ को मिल्स ने अचानक गाइडिन्ल्यू के शिविर पर हमला कर उन्हें पकड़ लिया।

गाइडिन्ल्यू को पहले कोहिमा और फिर इम्फाल लाकर मुकदमा चलाया गया। उन पर राजद्रोह के भीषण आरोप लगाकर १४ साल के लिए जेल के सीखचों के पीछे भेज दिया गया। १९३७ में जब पण्डित नेहरू असम के प्रवास पर आये, तो उन्होंने गाइडिन्ल्यू को 'नागाओं की रानी' कहकर सम्बोधित किया। तब से यही उनकी उपाधि बन गयी। आजादी के बाद उन्होंने राजनीति के बदले समाजसेवा के मार्ग को चुना।

१९५८ में कुछ नागा संगठनों ने विदेशी मिशनरियों की शह पर नागालैण्ड को भारत से अलग करने का हिंसक आन्दोलन चलाया। रानी माँ ने उसका प्रबल विरोध किया। इस पर वे उनके प्राणों के प्यासे हो गये। इस कारण रानी माँ को छह साल तक भूमिगत रहना पड़ा। इसके बाद वे भी शान्ति के प्रयास में लगी रहीं।

१९७२ में भारत सरकार ने उन्हें ताम्रपत्र और फिर 'पद्मभूषण' देकर सम्मानित किया। वे अपने क्षेत्र के ईसाईकरण की विरोधी थीं। अत: वे वनवासी कल्याण आश्रम और विश्व हिन्दू परिषद् के अनेक सम्मेलनों में गयीं। आजीवन अविवाहित रहकर नागा जाति, हिन्दू धर्म और देश की सेवा करने वाली रानी माँ गाइडिन्ल्यू ने १७ फरवरी को यह शरीर और संसार छोड़ दिया।

❖

२७ जनवरी जन्म-दिवस

वनों का रक्षक : निर्मल मुण्डा

उत्कल भूमि उत्कृष्टता की भूमि है। यहाँ की प्राकृतिक छटा और वन सम्पदा अपूर्व है। अंग्रेजों ने जब इसे लूटना शुरू किया, तो हर जगह वनवासी वीर इसके विरोध में खड़े हुए। ऐसा ही एक वीर था निर्मल मुण्डा, जिसका जन्म २७ जनवरी, १८९४ को ग्राम बारटोली, गंगापुर स्टेट, उड़ीसा में हुआ था।

निर्मल के पिता मोराह मुण्डा ग्राम प्रधान थे। पूरा गाँव उनका आदर करता था। निर्मल की प्रारम्भिक शिक्षा रायबोगा स्कूल में हुई। इसके बाद उसे राजगंगापुर के लूथेरियन मिशन स्कूल और फिर राँची के गोसनर स्कूल में भेज दिया गया। कक्षा दस में पढ़ते समय प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया। निर्मल सेना में भर्ती होकर फ्रान्स लड़ने चला गया। युद्ध के बाद कुछ समय उसने वीरमित्रतापुर लाइम स्टोन कम्पनी में नौकरी की। एक बार उसकी भूल न होते हुए भी अंग्रेज अधिकारी ने उसे डाँटा, तो वह नौकरी छोड़कर अपने क्षेत्र को शिक्षित बनाने का संकल्प लेकर गाँव में रहने लगा।

अंग्रेजों से पूर्व इस वनवासी क्षेत्र पर स्थानीय राजाओं और जमीदारों का अधिकार था। यद्यपि वे भी जंगल से क़माई करते थे; पर वे पर्यावरण सन्तुलन बनाक़र रखते थे। अंग्रेजों के आने के बाद यह व्यवस्था बदल गयी। उनका उद्देश्य अधिकाधिक धन कमाकर अपने देश भेजना था। वे इस क्षेत्र पर कब्जा भी करना चाहते थे, ताकि उनकी लूट को कोई रोक न सके। इसी उद्देश्य के लिए अंग्रेजों ने इसके लिए मुखर्जी समिति बनायी, जिसके द्वारा बनाये नियम 'मुखर्जी सेटलमेण्ट' कहे गये।

इससे पूर्व १९०८ में ब्रिटिश संसद ने जंगल और उसकी उपज पर वनवासियों के अधिकारों के संरक्षण के लिए कानून बनाये थे; पर मुखर्जी सेटलमेण्ट के माध्यम से उन्हें भी छीन लिया गया। यह वनवासियों के अधिकारों पर सीधी चोट थी। इसके विरुद्ध वे निर्मल मुण्डा के नेतृत्व में संगठित होने लगे। निर्मल ने गाँव–गाँव घूमकर वनवासियों को एकत्र कर उन्हें अपने अधिकारों के बारे में जागरूक किया। उन्होंने अंग्रेजों के साथ रहकर काम किया था, इसलिए उनकी धूर्तता वे बहुत अच्छी तरह जानते थे।

मुखर्जी सेटलमेण्ट के अनुसार मालगुजारी की दर पाँच गुनी कर दी गयी। वनवासियों की खेती तो प्रकृति पर आधारित थी। यदि कभी अतिवृष्टि या अनावृष्टि हो जाती, तो भूखों मरने की नौबत आ जाती थी; पर अंग्रेजों को इससे क्या लेना, वे तो उनकी जमीन नीलाम कर मालगुजारी वसूलते थे। वनवासियों में आक्रोश बढ़ता जा रहा था। निर्मल मुण्डा ने इसके विरोध में २५ अप्रैल, १९३९ को सुन्दरगढ़ जिले के आमको सिमको ग्राम में एक विशाल सभा का आयोजन किया, जिसमें १०,००० वनवासी एकत्र हुए।

प्रशासन इस सभा एवं आन्दोलन से भयभीत था। अतः लेफ्टिनेण्ट ज्योप्टोन बिफो के नेतृत्व में पुलिस कर्मियों ने मैदान को घेरकर गोली चला दी, जिसमें ३०० लोग मारे गये। पुलिस ने निर्मल मुण्डा को गिरतार कर जसपुर जेल में ठूँस दिया, जहाँ से वे १९४७ में ही मुक्त हुए।

इस वीर को आजादी के बाद भी समुचित सम्मान नहीं मिला। क्षेत्रीय जनता की बहुत पुकार पर १५ अगस्त, १९७२ को प्रधानमन्त्री इन्दिरा गान्धी ने उन्हें ताम्रपत्र दिया। इसके कुछ समय बाद दो जनवरी १९७३ को वनों के रक्षक इस वीर का देहान्त हो गया। प्रतिवर्ष २५ अप्रैल को आमको सिमको गाँव में लगने वाले मेले में निर्मल मुण्डा को लोग श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

❖

२६ जनवरी जन्म दिवस

सबके रज्जू भैया

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चतुर्थ सरसंघचालक प्रो० राजेन्द्र सिंह का जन्म २९ जनवरी, १९२२ को ग्राम बनैल, जिला बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश के एक सम्पन्न एवं शिक्षित परिवार में हुआ था। उनके पिता कुँवर बलबीर सिंह अंग्रेज शासन में पहली बार बने भारतीय मुख्य अभियन्ता थे। इससे पूर्व इस पद पर सदा अंग्रेज ही नियुक्त होते थे। राजेन्द्र सिंह को घर में सब प्यार से रज्जू कहते थे। आगे चलकर उनका यही नाम सर्वत्र लोकप्रिय हुआ।

रज्जू भैया बचपन से ही बहुत मेधावी थे। उनके पिता की इच्छा थी कि वे प्रशासनिक सेवा में जायें। इसीलिए उन्हें पढ़ने के लिए प्रयाग भेजा गया; पर रज्जू भैया को अंग्रेजों की गुलामी पसन्द नहीं थी। उन्होंने प्रथम श्रेणी में एम–एस.सी उत्तीर्ण की और फिर वहीं भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक हो गयें। उनकी एम–एस.सी की प्रयोगात्मक परीक्षा लेने के लिए नोबेल पुरस्कार विजेता डा० सी.वी.रमन आये थे। वे उनकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए तथा उन्हें अपने साथ बंगलौर चलकर शोध करने का आग्रह किया; पर रज्जू भैया के जीवन का लक्ष्य तो कुछ और ही था।

प्रयाग में उनका सम्पर्क संघ से हुआ और वे नियमित शाखा जाने लगे। संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी से रज्जू भैया बहुत प्रभावित थे। १९४३ में रज्जू भैया ने काशी से प्रथम वर्ष संघ शिक्षा वर्ग का प्रशिक्षण लिया। वहाँ श्री गुरुजी का 'शिवाजी का पत्र, जयसिंह के नाम' विषय पर जो बौद्धिक हुआ, उससे प्रेरित होकर रज्जू भैया ने अपना जीवन संघ कार्य हेतु समर्पित कर

दिया। अब रज्जू भैया अध्यापन कार्य के अतिरिक्त शेष सारा समय संघ कार्य में लगाने लगे। उन्होंने अपने माता–पिता को बता दिया कि वे गृहस्थी के बन्धन में नहीं बधेंगे। विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहते हुए रज्जू भैया ने संघ कार्य के लिए अब पूरे उत्तर प्रदेश में प्रवास प्रारम्भ कर दिया। वे अपनी कक्षाओं का तालमेल ऐसे करते थे, जिससे छात्रों का अहित न हो तथा उन्हें सप्ताह में दो–तीन दिन प्रवास के लिए मिल जायें।

रज्जू भैया सादा जीवन उच्च विचार के समर्थक थे। वे सदा तृतीय श्रेणी में ही प्रवास करते थे तथा प्रवास का सारा व्यय अपनी जेब से करते थे। इसके बावजूद जो पैसा बचता था, उसे वे चुपचाप निर्धन छात्रों की फीस तथा पुस्तकों पर व्यय कर देते थे। १९६६ में उन्होंने विश्वविद्यालय की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और पूरा समय संघ को ही देने लगे। अब उन पर उत्तर प्रदेश के साथ बिहार का काम भी आ गया।

उनकी योग्यता के कारण उनका कार्यक्षेत्र क्रमश: बढ़ता गया। आपातकाल के समय भूमिगत संघर्ष को चलाये रखने में रज्जू भैया की बहुत बड़ी भूमिका थी। उन्होंने प्रोफेसर गौरव कुमार के छद्म नाम से देश भर में प्रवास किया। जेल में जाकर विपक्षी नेताओं से भेंट की और उन्हें एक मञ्च पर आकर चुनाव लड़ने को प्रेरित किया। इसी से इन्दिरा गान्धी की तानाशाही का अन्त हुआ। १९७७ में रज्जू भैया सह सरकार्यवाह, १९७८ में सरकार्यवाह और १९९४ में सरसंघचालक बने। उन्होंने देश भर में प्रवास कर स्वयंसेवकों को कार्य विस्तार की प्रेरणा दी। खराब स्वास्थ्य के कारण उन्होंने २००० ई० में श्री सुदर्शन जी को यह दायित्व दे दिया। इसके बाद भी वे सभी कार्यक्रमों में जाते रहे।

अन्तिम समय तक सक्रिय रहते हुए १४ जुलाई २००३ को कौशिक आश्रम, पुणे में रज्जू भैया का देहान्त हो गया।

❖

विजय कुमार

सहायक सम्पादक
राष्ट्रधर्म (मासिक), लखनऊ
दूरभाष : ०५२२–२६६३१३६



पुस्तक लेखन

अपने परपूजनीय सरसंघचालक	– लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
आओ खेलें खेल	– लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
सुनो कहानी माधव की (चित्रकथा)	– लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
चूहे की चम्पी	– लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
दासबोध, संक्षिप्त अध्ययन	– सुरुचि प्रकाशन, दिल्ली
सांस्कृतिक पहेलियाँ	– प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

सम्पादन

दिशा – शंकर आश्रम, मेरठ से प्रकाशित
विश्व में हिन्दू और लक्ष्मण श्रीकृष्ण भिड़े – लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
विश्वव्यापी हिन्दू संस्कृति – लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

अन्य

सामयिक विषयों पर पत्र–पत्रिकाओं एवं अन्तरजाल (इण्टरनेट) पर नियमित लेखन, कहानी, व्यंग्य, निबन्ध एवं काव्य लेखन में भी सक्रिय

ISBN 978-81-89606-25-1